कला और
आधुनिक
प्रवृत्तियाँ
रामचन्द्र शुक्ल

१९७३-७४ वर्ष के हमारे प्रकाशन

• • •

* भारतीय पक्षी
—श्री सुरेश सिंह २०.००
* वनस्पतियों के स्वलेख
—आचार्य जगदीशचन्द्र वसु ८.५०
* विज्ञान का दर्शन
—डॉ॰ अजितकुमार सिन्हा ९.००
* समाचार, संकलन और लेखन
—श्री नन्दकिशोर त्रिखा ८.००
* पाश्चात्य जीवनी कला
—डॉ॰ सरला शुक्ल ५.००
* वाष्पचालित तथा अन्य इंजन
—श्री ओंकारनाथ शर्मा १७.००
* नर और नारी (परिवार नियोजन)
—डॉ॰ सुरेन्द्रनाथ गुप्त ८.००
* धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग—४
—श्री पा॰ वा॰ काणे १८.००
* धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग—५
—श्री पा॰ वा॰ काणे १८.००
* धर्मशास्त्र का इतिहास (५ भागों की शब्दानुक्रमणिका) २.५०

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—१७

कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ

लेखक
रामचन्द्र शुक्ल

उत्तर प्रदेश शासन
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ

प्रथम संस्करण : १९५८
द्वितीय संस्करण : १९६३
तृतीय संस्करण : १९७४

मूल्य
छः रुपये

मुद्रक
श्री घनश्याम भार्गव
जी. डब्लू. लॉरी एण्ड कम्पनी
४, लालबाग़, लखनऊ

प्रकाशकीय

● ● ●

चित्र-कला, संगीत के बाद चाक्षुष मनोरंजन की दृष्टि से सर्वाधिक लोकप्रिय विषय है। ललित कलाओं में इसका विशिष्ट स्थान और सम्मान है। इस विज्ञान के युग में भी चित्रकला अपनी चमत्कारिता और तूलिका से जन-मन को प्रभावित करने का उपक्रम कर रही है, और इस विषय से सम्बद्ध साहित्य प्रचुर मात्रा में प्रकाशित हो रहा है; किन्तु यह कहने में संकोच नहीं कि हिन्दी में अभी तक चित्रकला-संबंधी ग्रन्थ बहुत ही कम हैं और इस ओर अब तक विशेष ध्यान भी नहीं दिया गया था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही चित्र और चित्रकारिता से सम्बद्ध कुछ अच्छी पुस्तकें प्रकाश में आयी हैं। हिन्दी समिति ने भी अपने लक्ष्य और सीमा को देखते हुए इस दिशा में जो प्रयास किया, उसका परिणाम है—प्रस्तुत पुस्तक "कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ।"

इस ग्रन्थ में, हमारे पाठकों को चित्र-जगत् की विशेषताओं और उपलब्धियों का परिचय तो मिलेगा ही; साथ ही इस दिशा में कहाँ और किस प्रकार के नये प्रयोग हो रहे हैं; और चित्रकारों में किस भावना और सिद्धान्त का प्रचार हो रहा है—इसकी भी झलक मिलेगी। ग्रन्थ के लेखक स्वंय सफल चित्रकार हैं और भारत में नये प्रयोगों की रचना करने वालों की गतिविधि से भी सुपरिचित रहे हैं। यही कारण है कि, उन्होंने मुख्य प्रवृत्तियों के अतिरिक्त प्रतीकवादी सरलता, आदर्शवादी वर्णनात्मक, यथार्थवादी, आभासात्मक, वैज्ञानिक, अभिव्यंजनात्मक, स्वप्निल तथा काल्पनिक प्रवृत्ति का संकेत करते हुए आध्यात्मिक एवं अन्ताराष्ट्रीय प्रवृत्ति का भी उल्लेख किया है और अनेक का उदाहरण देकर पुस्तक को उपयोगी और ज्ञानवर्धक बनाने का श्रम किया है।

हमें इस बात का सुख और सन्तोष है कि इस पुस्तक का हिन्दी जगत् ने तथा कला प्रेमियों ने समुचित स्वागत और सत्कार किया। यही कारण है, आज इसका तीसरा संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। हम चाहते थे कि इस संस्करण को और भी विशिष्ट एवं अद्यतन सामग्री से समलंकृत करते; किन्तु समय के अभाव तथा

लेखक की व्यस्तता के कारण वह संभव नहीं हो सका। फिर भी इस नये संस्करण में हमने अनेक नये चित्रों का समावेश किया है और यह चेष्टा की है कि हमारे पाठक अधिकाधिक लाभान्वित हों। कागज तथा मुद्रण-सम्बन्धी अन्य वस्तुओं की महार्घता के कारण इस नये संस्करण के मूल्य में कोई विशेष वृद्धि नहीं की गयी है, इसका भी हमें सन्तोष है और हमारे पाठकों को भी कोई व्यय-भार नहीं बढ़ेगा। विश्वास रखें, अगले संस्करण में हम इस ग्रन्थ को और अधिक विशद एवं व्यापक बनाने की चेष्टा करेंगे। इस दिशा में हम पाठकों से प्राप्त सुझावों और संकेतों का भी ध्यान रखेंगे। शुभ कामनाओं के साथ,

हिन्दी भवन,
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ
होली, १९७४ ई.

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
सचिव, हिन्दी समिति
उत्तर प्रदेश शासन

विषय-सूची

चित्र-सूची

कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ

ज्वालाओं के बीच चित्रकार—रामचन्द्र शुक्ल

कला-सरिता

सरिता जल की वह धारा है, जो पहाड़ों की चोटियों पर संचित जल का संबल ले, कल-कल करती, पत्थरों को काटती, जंगलों में घूमती, मैदानों में रेंगती उतरती है, और निरन्तर अपना टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता बनाती चलती चली जाती है, जबतक कि सागर का विशाल दामन उसे अपने में छिपा नहीं लेता। सरिता विशाल हिम-गिरियों के शिखरों पर जन्म लेकर अनन्त गहराई की ओर चल पड़ती है, जैसे उसको जन्म-जन्मातर से इसी गहराई की खोज हो। एक बार ऊँचाई से निकलकर दुबारा ऊँचाई पर चढ़ना उसके लिए नामुमकिन है। वह पग-पग पर गहराई खोजती चलती है और जहाँ पा जाती है, झपट पड़ती है उसी ओर, जैसे यही गहराई उसके जीवन का लक्ष्य हो। इसी की खोज में वह बहती चली जाती है।

कौन कहता है सरिता में जीवन नहीं? मनुष्य अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के सहारे सुख की खोज में सरिता की भाँति बढ़ता जाता है, जिसे वह जीवन तथा अपनी संस्कृति की प्रगति कहता है। सरिता गहराई खोजती है और शायद उसे ही वह सुख समझती है। मनुष्य और सरिता इसी तरह प्रगति करते जाते हैं; एक खोज, वही जीवन है—दोनों में है। सरिता सागर में पहुँचकर विलीन हो जाती है—अपने लक्ष्य को पा जाती है—अथाह गहराई को। मनुष्य की जीवन-यात्रा का भी अन्त है—गहराई, गहन अन्धकार! वह भी महान् अन्धकार में लीन हो जाता है। इसकी गहराई का कोई अन्त नहीं, सागर तो फिर भी नापा जा सकता है।

सरिता की प्रत्येक गति गहराई खोजती है; यही सत्य है। जीव भी यही खोजता है। सरिता को क्या अपना अस्तित्व मिटा देने में दुःख नहीं होता? यह तो वही कह सकती है। मनुष्य भी अन्धकार में विलीन होने से भयभीत होता है, पर सत्य यह है कि वह फिर भी निरन्तर उसी ओर बढ़ता जाता है, उसी की खोज में। ज़ीवन एक खोज है।

मनुष्य जो कुछ भी करता है, इसी खोज के लिए। इसी खोज में सरिता पाषाणों को काटकर, पृथ्वी में दरार बनाती, तब तक चली जाती है, जब तक अन्तिम गहराई नहीं पा

जाती। मनुष्य भी अपनी कलाओं के आधार पर इसी खोज में रत होता है। मनुष्य की कला इसी खोज का एक माध्यम है। कला अन्त नहीं है—अन्त तो है गहराई। कला एक सहारा है, एक तरीका है, वहाँ तक पहुचने का। कला कला के लिए नहीं है, कला लक्ष्य नहीं है; कला साधन है, उस खोज का।

कला की महानता इसमें नही कि वह क्या-क्या बनाती है—उसे तो खोज करनी है—अपने लक्ष्य की। नये रास्ते बनाने हैं, वहाँ तक पहुँचने के—वैसे ही जैसे सरिता बनाती है रास्ते, सागर तक पहुँचने के।

सरिता कभी मुड़कर नहीं देखती कि उसने पीछे क्या-क्या बनाया है। वह तो बहती जाती है, अपने लक्ष्य की खोज में। मनुष्य की कला का रूप क्या है, इससे कलाकार का सरोकार नहीं—वह तो अपनी कला के द्वारा कुछ खोजता है—वही जो सरिता खोजती है। किसने कितनी गहराई प्राप्त कर ली, यही उसकी प्रगति की सफलता का प्रमाण है।

कला भाव-प्रकाशन है, इससे कलाकारों को कोई सरोकार नहीं। कला भले ही भाव-प्रकाशन करे, परन्तु कलाकार के लिए इसका क्या महत्त्व? महत्त्व तो है खोज के परिणामों का—गहराई का—अन्तिम लक्ष्य का।

कला भाव-प्रकाशन नहीं—खोज का रूप है। कला लक्ष्य नहीं, लक्ष्य की प्राप्ति का तरीका है।

कला मनुष्य की जीवन-यात्रा की सरिता है, जो उसके सम्मुख प्रगति के रास्ते खोजती चलती है।

कला एक खोज है।

कलाकार की कला

समुद्र के किनारे तथा नदियों के तट पर सीप और घोंघे पाये जाते हैं। ये सीप और घोंघे अनेकों रूप, रंग तथा आकार के होते हैं और देखने में बहुत सुन्दर होते हैं। बहुत-से लोग इनमें से अच्छे-अच्छे नमूने लाकर अपने घरों में सजावट के लिए रखते हैं और बहुत से लोग शौकिया तौर पर विभिन्न प्रकार के सीप तथा घोंघों का संग्रह करते हैं।

सीप तथा घोंघे पानी में रहनेवाले एक प्रकार के जन्तुओं के बाहरी शरीर का ढाँचा होता है, जो पत्थर तथा हड्डी की तरह मजबूत होता है। इसी के अन्दर वे जीव, जब तक जीवित रहते हैं, रहा करते हैं। मरने के बाद यह सीप-घोंघोंवाला उनका शरीर पानी के साथ बहाव से नदी तट पर आ जाता है। उसके अन्दर के जीव सूखकर, मिट्टी होकर, साफ हो जाते हैं।

इन सीपों तथा घोंघों को जब हम समुद्र के किनारे तथा नदी तट पर पाते हैं, तो इनके अन्दर के जीव नहीं दिखाई पड़ते और हम उन्हें उनके अन्दर न देखने के कारण उन सीप तथा घोंघों को ही वह जीव समझते हैं।

परन्तु ऐसा नहीं है। ये सीप तथा घोंघे उन जीवों के बाहरी शरीर या रूप के अवशेष मात्र हैं, जिनके अन्दर रहकर उन्होंने जीवन-निर्वाह किया है।

इसी प्रकार कलाकार तथा उसकी कला है। कलाकार उस जीव के समान है, जो सीप या घोंघे में था और उसकी कला उस घोंघे तथा सीप के समान है। अर्थात् जिस प्रकार घोंघा या सीप पानी के जन्तुओं का बाहरी रूप है, उसी प्रकार कलाकार की कला। चित्रकार के चित्र उस कलाकार के अवशेष हैं, जिनके अनुरूप उसने अपना जीवन निर्वाह किया है। जिस प्रकार सीप तथा घोंघे का जीव मरकर अपना अवशेष छोड़ जाता है, उसी प्रकार कलाकार के चित्र। कलाकार के लिए उसके चित्र कोई तात्पर्य नहीं रखते, वह तो उसके जीवन का एक बाहरी रूप है। जिस प्रकार सीप का, जीव मरने के बाद, अपना बाहरी शरीर सीप या घोंघा छोड़कर चला जाता है, और हम उसे उठाकर अपनी

बैठक में सजाते हैं, या उसका अन्य उपयोग करते हैं; उसी प्रकार कलाकार अपने चित्रों को छोड़ता जाता है। यह उसका काम नहीं कि वह लोगों को बताये कि उसके चित्रों का क्या उपयोग है। न चित्रकार ही जानता है इसे, न जानने का प्रयत्न ही करता है। यह तो समाज का काम है कि उन चित्रों का क्या उपयोग है समझे और उसका उपयोग करे।

उन चित्रों को देखकर या उनका अध्ययन कर हम जान सकते हैं कि अमुक चित्रकार ने किस प्रकार का जीवन-निर्वाह किया। कलाकार समाज का नेता होता है, पथप्रदर्शक होता है, इसलिए उसके जीवन के तरीकों को समझकर हम भी अपना जीवन उन्हीं आधारों पर व्यतीत कर सकते हैं और आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं। जिस प्रकार धार्मिक तथा बौद्धिक नेताओं की लिखी हुई पुस्तकें, उनका दर्शन, उनकी वाणियाँ, उनके आदर्श, उनकी सम्मतियाँ, उनके उपदेश जानकर हम जीवन को सफल बनाते हैं, उसी प्रकार कलाकारों के चित्रों को देखकर तथा उनका अध्ययन कर।

एक प्रश्न

चित्र सभी देखते हैं और यह जानते हैं कि चित्र किसे कहते हैं। चित्र की परिभाषा जानने की एक बच्चे को भी आवश्यकता नहीं पड़ती। वह जन्म से, वर्ष भर के अन्दर ही चित्र क्या है, जान लेता है। आरम्भ में थोड़ा भ्रम अवश्य होता है। बच्चा अपनी माँ को देखता है, दूध पीता है, उसकी गोदी से लिपटा रहता है, पिता को पहचानता है, और धीरे-धीरे भाई-बहनों को पहचानने का प्रयत्न करता है। माँ को तो खूब पहचानने लगता है। आप बच्चे के सामने उसकी माँ का एक बड़ा फोटो रख दें, वह उसकी ओर निहारेगा। फोटो यदि रंगीन हो, तो वह जल्दी आकृष्ट होगा। कल्पना कीजिए, यदि उसकी माँ का ऐसा रंगीन फोटो उसके सम्मुख रखा जाय जिसमें माँ का वक्षस्थल उघरा हो और साफ-साफ दृष्टिगोचर हो, तो क्या होगा? मैंने ऐसे समय बालक को हाथ बढ़ाते देखा है। वह भ्रम में पड़ता है, चित्र को अपनी माँ समझता है और आशा करता है कि वह भी माँ की तरह उसे दूध पिलाये।

यह तो वर्ष भर के बालक की बात हुई। वह चित्र को चित्र नहीं समझता बल्कि कोई वस्तु समझता है, जिसे वह छूना चाहता है, पकड़ना चाहता है, लेना चाहता है। उसके सामने शीशा रख दीजिए, वह अपनी शक्ल देखकर उसे ही पकड़ना चाहता है। शीशे को बार-बार अपनी नन्हीं उँगलियों से नोचता है। पाता कुछ नहीं, केवल अनुभव। मैंने कई बार अपने कमरे में रखे बड़े शीशे पर गौरैया को झगड़ते देखा है। गौरैया अपनी सूरत शीशे में देखकर घबड़ाती थी कि यहाँ दूसरी गौरैया कहाँ से आ गयी। वह शीशे पर बार-बार अपनी चोंच मारती थी, लड़ती थी, और उसे ऐसा करते मैंने लगातार हफ्ते भर देखा है। गौरैया भी बालक की भाँति शीशे में अपने प्रतिबिम्ब को सच समझती है, और उससे लड़ने का प्रयत्न करती है, झुँझलाती है, कभी शीशे के पीछे जाकर देखती है, कभी आगे आकर, कभी आवाज़ देकर। उसे भी भ्रम हो जाता है—चित्र को, प्रतिबिम्ब को वस्तु समझती है। वर्ष भर का बालक और चिड़िया बराबर हैं। बिलकुल एक-सी प्रकृति।

क्या यह प्रकृति आगे चलकर बदलती है ? खास कर मनुष्य में ? क्या वह चित्र को वस्तु समझना छोड़ देता है ? क्या प्रतिविम्ब को वह सच नहीं मानता ? मेरा ख्याल है, बड़ा मुश्किल है । आप स्वयं विचार करें, आप में और बालक में क्या अन्तर है ?

सदियाँ बीत गयीं, युग बीत गये। मनुष्य का रूप, रंग, चाल-चलन, आचार-विचार, सब कुछ बदल गया, बुद्धि का विपुल विकास हुआ। मनुष्य परमाणु-शक्ति के बल पर शीघ्र ही चन्द्रलोक में पहुँचनेवाला है, परन्तु आज भी चित्र को वस्तु समझने का भ्रम बना है, अपनी जगह है। यूरोप के विश्व-विख्यात कलाकार रूबेन्स ने ऐसे चित्रों का निर्माण किया जिनमें शरीर के अंग, जीवित लहू-युक्त मांस-पेशियों-से प्रतीत होते हैं और उन्हें छूकर देखने की अनायास इच्छा होती है। भारतवर्ष में ऐसी कला तो दृष्टिगोचर नहीं हो सकी, पर राजा रविवर्मा ने इस ओर प्रयास किया था। और भी इस प्रकार के चित्रकार थे, और हैं, यद्यपि उतनी सफलता उन्हें प्राप्त नहीं हुई। हमारे समाज में भी अधिकतर व्यक्ति चित्र का यही आदर्श आज भी मानते हैं और कलाकार से ऐसी ही आशा करते हैं। क्या मैं कहूँ कि बालक, गौरैया और मनुष्य की प्रकृति चित्र के प्रति आज भी एक-सी है ? हम चाहते हैं कि चित्र ऐसा हो, जो वस्तु का भ्रम उत्पन्न कर सके। चित्त में किसी वस्तु का ऐसा चित्रण हो, जो हमें भ्रम में डाल दे और चित्र में बनी वस्तु हम वही वस्तु समझ सकें।

आधुनिक कला ने हमारी इस प्रकृति के बिलकुल विपरीत कदम उठाया है—हमारा भ्रम ही हमसे छीना जा रहा है। कैसे हम आधुनिक कला का आदर कर सकते हैं ?

भारतवर्ष में यद्यपि और बातों में मति-भ्रम हुआ है, परन्तु भारतीय प्राचीन चित्रकला का इतिहास प्रमाण है कि इस भ्रम में पड़ने का यहाँ कभी प्रयत्न नहीं हुआ।

आज यूरोप तथा अन्य पाश्चात्य देशों में भी आधुनिक कला ने इस भ्रम के विरुद्ध मोर्चा बना लिया है। चित्रकला स्वाभाविकता से कहीं दूर पहुँच गयी है।

चित्र चित्र है, वस्तु वस्तु है। दोनों एक नहीं हैं। हाँ, वस्तु का भी चित्रण हो सकता है, होता आया है, हो रहा है और भविष्य में भी होगा। अब प्रश्न यह है कि क्या वस्तु का ही चित्रण करना कला है ? ऐसा समझा जाता था और आज भी लोग ऐसा ही समझते हैं। चित्र शब्द का सम्बोधन करते ही प्रश्न उठता है, किस वस्तु का चित्र ? किसी जीव, पदार्थ या वस्तु का चित्र ? यह समझना एक परम्परा-सी हो गयी है। यही परि-भाषा बन गयी है—चित्र किसी वस्तु का होता है अर्थात् चित्र रेखा, रंग, रूप के माध्यम से किसी वस्तु का चित्रण होता है। चित्र वस्तु का चित्रण न होकर और क्या हो सकता है ? वस्तु-चित्रण ही कला है, ऐसा अधिकतर लोगों का ख्याल है।

इससे आगे जब हम बढ़ते हैं तो सभ्य समाज में धारणा यह होती है कि कला का कार्य केवल वस्तु-चित्रण ही नहीं है, बल्कि कला के माध्यम से हम अपनी भावनाओं तथा विचारों की भी अभिव्यक्ति कर सकते हैं। चित्र ऐसा हो जो देखनेवाले के मन पर प्रभाव डाले, विचारों में परिवर्तन करे, नये विचार दे या कहिए कोई नव-सन्देश व्यक्त करे—चित्र को बोलना चाहिए। बात जँच गयी, जम गयी और सभ्य-शिक्षित समाज ने इसी को चित्र की कला समझा। वस्तु से थोड़ा ऊपर उठकर भावना, विचार या सन्देश को प्रधानता मिली। पर यह सब वस्तु-चित्रण के द्वारा होना चाहिए, इसमें सन्देह न था, आस्था बन गयी, यद्यपि वस्तु से अधिक प्रधानता अभिव्यक्ति को प्राप्त हुई। साथ-साथ भाव यह भी बना रहा कि चित्र सुन्दर होना चाहिए। अर्थात् वस्तु का चित्रण हो, भावना, विचार तथा सन्देश व्यक्त हो, और सुन्दरता हो। कला आगे बढ़ी। अजन्ता, मुगल, राजपूत—सभी भारतीय प्राचीन कला-शैलियों में इस भाव का समावेश था। आधुनिक कलाकारों ने पुनः इन भावों को दृढ़ किया। समाज ने इसे समझने का प्रयत्न किया।

फिर आधुनिक कला ने वस्तु-चित्रण के स्थान पर यह क्या किया ? ऐसे चित्र बनते हैं, जिनमें यह मालूम ही नहीं पड़ता कि चित्र किस वस्तु का है, क्या भावना, विचार या सन्देश व्यक्त होता है। इन आधुनिक सूक्ष्म चित्रों को देखकर केवल जटिलता का बोध होता है। चित्रकारों का पागलपन या विकृति नज़र आती है। यूरोप, अमेरिका, इंग्लैण्ड सभी देशों के कलाकार पागल हो गये हैं, विकृत हो गये हैं, कि वहाँ मुश्किल से अब कोई ऐसा नया चित्र दिखाई पड़ता है जिसमें किसी वस्तु का चित्रण हो, क्या भावना या सन्देश है इसका पता लगे, सुन्दरता तो नज़र ही नहीं आती। इन चित्रकारों को पागल समझने-वाले वहाँ काफी हैं, पर इसकी सचाई भारतवासियों को सात समुद्र पार से ही मालूम हो गयी है। हम विज्ञान में यूरोप से भले पीछे हैं, पर सचाई तो हम ही दूसरों को सिखा सकते हैं। हमें इस पर गर्व है. इसका हमें दावा है। अफसोस तो इस बात का है कि हमारे कलाकार स्वयं पागल हुए जा रहे हैं, इन पाश्चात्य कलाकारों को देखकर। क्या हमारे कलाकारों की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है ? क्या आजादी प्राप्त करने के बाद यही कार्य बाकी रह गया है ? पिछले वर्षों दिल्ली में 'ललित कला अकादमी' की प्रदर्शनियों में सूक्ष्म कला की बाढ़-सी आ गयी। रोके न रुकी। यहाँ तक कि प्रदर्शनी के सूचीपत्रों में दिये चित्रों तथा मान्यता प्राप्त चित्रों में केवल सूक्ष्म चित्र ही दिखाई पड़े। क्या यह चिन्ता का कारण नहीं ? हमारे विद्वान् कला-रसिक, कला-इतिहासज्ञ, कला-पारखी इसे क्यों नहीं रोक पाते ?

इसीलिए कि क्रान्ति रोके से नहीं रुकती, तूफान थामे नहीं थमता। तो क्या होगा ?

कहूँ क्या ? "वही होता है जो मंजूरे खुदा होता है ।" या तो तूफान का सामना कीजिए या इस तूफान की ताकत का, बुद्धि से मानवता के लिए प्रयोग कीजिए । दूसरा रास्ता नहीं ।

इस तूफान का तात्पर्य क्या है ? यह क्यों है ? कहाँ से आया ? कहाँ हमें ले जायगा ? क्या यह घातक है ? यही है आज की कला के सम्मुख एक प्रश्न !

एक तूफान

१६४७ ई० में भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की जो एक महान् क्रान्ति का फल है । भारत विदेशियों को सत्ता से मुक्त हुआ । स्वतंत्रता की इस क्रान्ति का मुकाबला अंग्रेज न कर सके, उन्हें भारत छोड़ना पड़ा । स्वतंत्रता की लहर प्रत्येक भारतीय की नस-नस में दौड़ने लगी, चाहे वह गरीब हो या अमीर, छोटा हो या बड़ा, पढ़ा-लिखा हो या ज़ाहिल । कलाकार, साहित्यकार, विचारक – सभी ने स्वतंत्रता की गंगा में स्नान किया । हमने अपने विचार, सामाजिक जीवन तथा कार्य, सभी में स्वतंत्रता का अनुभव करना आरम्भ किया । जिस प्रकार तूफान के ख़त्म हो जाने के पश्चात् वह सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ पर अपनी छाप छोड़ जाता है, उसी प्रकार स्वतंत्रता का तूफान अपनी स्वतंत्रता की भावना यहाँ के प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क पर अंकित कर गया । हो सकता है कि सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से समाज का खाका इसका अधिक लाभ न उठा सका हो, परन्तु समाज के मूल कर्णधार साहित्यिकों, कलाकारों और विचारकों के भीतर यह स्वतन्त्रता का तूफान एक गहरी छाप छोड़कर ही गया । विचारों को स्वतंत्रता इसमें सबसे प्रधान है ।

कलाकार तो ऐसे प्रभावों को बहुत ही शीघ्रता से ग्रहण करता है और उसी का फल है, आधुनिक भारतीय चित्रकला में स्वतंत्र चित्रण का एक तूफान । इस तूफान से पहले भारतीय चित्रकला बंगाल शैली के सहारे जीवित होने का साहस कर रही थी । एकाएक कला के क्षेत्र में एक नया तूफान उमड़ पड़ा, स्वतंत्र चित्रण का । तूफान दिन-पर-दिन जोर पकड़ता रहा । अभी उसकी तीव्रता बढ़ती ही जा रही है । भारतीय चित्र-कला पर यह तूफान क्या असर छोड़कर जायगा, यह आज निश्चित नहीं कहा जा सकता, परन्तु आज भी हम तूफान का जो रंग देख रहे हैं उसका संक्षिप्त वर्णन तो कर ही सकते हैं और उसी आधार पर उसका विश्लेषण भी किया जा सकता है ।

आधुनिक समाज में कला और कलाकार

प्रथम बार भारतीय कलाकारों को राज्य की ओर से सम्मान प्राप्त होना प्रारम्भ हुआ है, जिसकी चर्चा हमने समाचार-पत्रों में पढ़ी है। इन सम्मानित लब्धप्रतिष्ठ प्रथम कलाकारों में श्री नन्दलाल बोस, श्री शियाबख्श चावड़ा, श्री यामिनी राय, श्री के० के० हेब्बर, श्री रामकिंकर, श्री एन० एफ० हुसेन, श्री आइ० एन० चक्रवर्ती, श्री के० सी० एस० पनीकर और श्री के० शंकर पिल्लई हैं। मेरा ख्याल है, हममें से बहुत कम लोग हैं, जो नन्दलाल बोस के अतिरिक्त किसी और कलाकार का नाम जानते हैं या उनकी कला से परिचित हैं। यह बहुत ही दुःख की बात है कि हम राजनीति तथा साहित्य के क्षेत्र में पिद्दी से नेता तथा कवि या साहित्यकार का नाम भी जानते हैं, पर अपने देश के अग्रगण्य कलाकारों से जरा भी परिचित नहीं।

तात्पर्य यह है कि अभी हमारा देश कला के क्षेत्र में सोया हुआ है। कला-विहीन जीवन मृत्यु के समान है; ऐसी अवस्था का कारण हम और आप हैं। हमने अभी तक इस ओर ध्यान दिया ही नहीं है। हमने अपने जीवन में कला को कोई स्थान नहीं दिया और इसके लिए हमें दूसरों का मुँह ताकना पड़ता है। मैं आज के आधुनिक हिन्दी साहित्यिकों, आलोचकों तथा विद्वानों को चेतावनी देता हूँ कि अगर इस ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया, तो वह दिन दूर नहीं जब देश पुनः सुप्तावस्था को प्राप्त होने लगेगा।

इस सबका कारण यह है कि अभी तक हमने यह भली-भाँति अनुभव ही नहीं किया है कि कलाओं का हमारे जीवन में क्या महत्त्व है। हमारे साहित्यिक समझते हैं कि यदि किसी कवि या लेखक की आलोचना कर सकें, कोई गप्प या कथा लिख सकें या वर्तमान आर्थिक तथा राजनीतिक टिप्पणी लिख सकें, तो उनका हिन्दी के प्रति कर्त्तव्य पूरा हो जाता है, पर साहित्य इतना ही नहीं है, साहित्य में जीवन के सभी पक्ष होने चाहिए। साहित्य और कला में बहुत गहरा सम्बन्ध है।

साहित्य का कार्य स्वयं कला का कार्य है, या कला है; परन्तु साहित्य का मुख्य कार्य है कलाओं को प्रेरणा देना। साहित्य का विषय कला होता है। यदि हम साहित्य की

उत्पत्ति पर ध्यान दें तो देखेंगे कि जीवन में कला का कार्य सब से पहले आता है। जीवन को बनाये रखना, सुन्दरतापूर्वक जीवन निर्वाह करना, स्वयं कला का कार्य है और आदि-काल से है। इसी के अन्तर्गत और सभी कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इसके पश्चात् जब भाषा-कला की उत्पत्ति हुई, तो इसके माध्यम से अन्य कलाओं या मनुष्य के कार्यों का ब्यौरा साहित्य के रूप में इकट्ठा होने लगा और आज भी होता जा रहा है। कोई साहित्य तभी महान् होता है जब मनुष्य के जीवन के प्रत्येक कार्य पर या कहिए प्रत्येक कला पर साहित्य का निर्माण कर लेता है। साहित्य किसी जाति या देश को ऊपर उठाता है, क्योंकि वह वहाँ के प्राणियों में प्रेरणा भरकर आगे कार्य करने की क्षमता प्रदान करता है और यही साहित्य का सबसे महान् कार्य है। ज्यों-ज्यों विभिन्न प्रकार का साहित्य तैयार होता जाता है, देश उन्नति के शिखर पर चढ़ता जाता है। पूर्ण साहित्यकार वही है, जो मनुष्य को भली-भाँति समझता है और उसको कला का कार्य करने के लिए प्रेरित करता है, क्योंकि कला या निर्माण के कार्य पर ही देश या जाति का भविष्य निर्भर करता है। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी साहित्य की क्या प्रगति है, हम आँक सकते हैं, और शायद इसीलिए मेकाले ने कहा था कि 'सारे एशिया का साहित्य अंग्रेजी साहित्य की एक आल-मारी के बराबर भी नहीं, हिन्दी का क्या कहना!' यदि हम चाहते हैं कि दुबारा ऐसा शब्द कोई अपने मुँह से यहाँ के साहित्य के बारे में न निकाले, तो हमें जल्दी-से-जल्दी होश में आ जाना चाहिए और भारतीय विभिन्न कलाओं पर उच्चतम साहित्य का निर्माण करना चाहिए। आज कला का विद्यार्थी या कला-रसिक प्रेरणा लेने के लिए जब हिन्दी साहित्य की ओर निहारता है, तो उसे निराश होना पड़ता है। मेरा ख्याल है कि हिन्दी-प्रेमी इसे एक चुनौती के रूप में लेना स्वीकार करेंगे।

हिन्दी भाषा में भी साहित्यकार कला पर कभी-कभी शौकिया तौर पर लिखने का प्रयत्न करते हैं और यह अच्छे लक्षण हैं, पर दिक्कत तब होती है जब वे केवल सुनी भाषा बोलते हैं, जिससे यह तुरन्त ज्ञात हो जाता है कि कला में रस उन्हें अभी नहीं मिल पाया है, और बस सब मज़ा किरकिरा हो जाता है। मनुष्य अच्छा साहित्यकार तभी बन पाता है जब वह जीवन में रस ले, जीवन में आनेवाली प्रत्येक वस्तु तथा घटना उसके हृदय में घर कर चुकी हो, उस पर उसने विचार तथा मनन किया हो। साहित्य का निर्माण केवल शब्दों से नहीं होता, बल्कि आत्मानुभूति पर निर्भर करता है। किसी कलाकार के बारे में यह कह देना कि वह महान् है, अद्भुत है—इतने से ही उसकी कला का परिचय नहीं मिल सकता। जब तक वह अपनी अनुभूति प्रकट नहीं करता, उसका वर्णन बेकार हो जाता है और मालूम पड़ता है कि ये शब्द इसने कहीं से चुराये हैं।

आज की आधुनिक चित्रकला एक अनोखा रूप धारण कर रही है और दिन-दिन उसका

प्रचार भी अधिक बढ़ता जा रहा है, परन्तु फिर भी हम उसका आनन्द नहीं ले पाते। इस प्रकार के अनेकों आधुनिक चित्रकार कार्य कर रहे हैं, पर न तो हम उनका नाम जानते हैं और न उनकी कला से ही परिचित हैं। शुरू में मैंने उन आठ कलाकारों का नाम लिया है जिनको राज्य की ओर से प्रथम पदक मिले थे। उनमें अधिकांशतः आधुनिक विचार के कलाकार हैं, पर हम में से शायद कोई भी उनकी कला से परिचित नहीं। ऐसा पदक कलाकार नन्दलाल बोस को भी मिला है, जिनके नाम से तो प्रायः हम सभी परिचित हैं, चाहे कला से न हों। नन्दलाल बोस वयोवृद्ध चोटी के कलाकार हैं, उनकी सेवाओं पर भारत को गर्व है, पर क्या अन्य सातों सम्मानित कलाकारों को जानना और उनकी कला से परिचित होना हमारा कर्त्तव्य नहीं है? इनमें से कुछ तो बिलकुल आधुनिक हैं। नन्दलाल बाबू का नाम तो धीरे-धीरे सभी ने सुन लिया है, पर इन कलाकारों की कला को भी सम्मान मिलना चाहिए। साहित्य या कला किसी एक की निधि नहीं होती। उस पर सबका अधिकार है और सभी को कला का कार्य करने के लिए प्रेरणा की आवश्यकता है। एक ओर जब साहित्य का यह कर्त्तव्य है कि वह समाज को यह बताये कि पहले क्या हो चुका है, तो उससे अधिक महत्त्व की बात यह है कि भावी कलाकारों को प्रेरणा दे जिनके ऊपर हमारा भविष्य निर्भर करता है।

लोगों का ख्याल है कि कला में आनन्द पाना सार्वजनिक नहीं है और इसमें आनन्द उसी को मिल सकता है जो स्वयं कलाकार है या जिसने थोड़ा-बहुत कला का अध्ययन किया है। कला में प्रवीणता या उसमें रस पाना एक ईश्वरीय वरदान है, यह कथन और भी सत्य प्रतीत होता है, जब हम देखते हैं कि आधुनिक समाज में कला को क्या स्थान प्राप्त है। कलाकार जीवन भर रचना का कार्य करता है, पर अक्सर वह समाज में अपना स्थान नहीं बना पाता, न समाज उसके परिश्रम का मूल्य ही देता है। कला की साधना करना कलाकार के लिए जीवन से लड़ना है। कितने ही कलाकार अपने लहू से रचना करके मिट गये, पर समाज उन्हें जानता तक नहीं, उनकी कला का रस लेना तो दूर रहा। ऐसा समाज यह भी कहता है कि कला एक साधना है जिसके लिए मर मिटना कलाकार का कर्त्तव्य है। बिना बलिदान के कला प्राप्त नहीं हो पाती। इतना ही नहीं, लोगों का विश्वास है कि कलाकार उच्च रचना तभी कर सकता है जब दुनिया भर का दुःख वह भोग ले और तड़पन की ज्वाला में भुजते हुए जब उसके मुँह से आह निकलने लगे, तभी वह सफल रचना कर सकता है। शायद ऐसा समाज इस 'आह' में सबसे अधिक रस पाता है। पाठक क्षमा करेंगे यदि मैं कहूँ कि रोम का शासक विख्यात नीरो सबसे महान् व्यक्ति था और उसे कला की सबसे ऊँची परख थी, इसीलिए वह मनुष्य को खूँखार भूखे शेरों के कटघरों में डालकर उस व्यक्ति के मुँह से निकली हुई आह का रसास्वादन सुनहले तख्त पर बैठकर

शराब की चुस्कियाँ लेता हुआ करता था और तारीफ यह कि वह उसका आनन्द लेने के लिए अपने समाज के अन्य व्यक्तियों को भी निमंत्रित करता था। हज़ारों की तादाद में लोग इकट्ठा होकर इस आह का रसास्वादन करते थे।

जरा कल्पना कीजिए कि आप कलाकार होते और नीरो के राज्य में जीवन-निर्वाह करते होते। एक दिन शेर के कटघरे में यदि आप डाल दिये जाते और शेर ने आपकी छाती में अपना नुकीला पंजा चुभाया होता, उस समय नीरो आपको कविता पाठ करने की आज्ञा देता तो आपकी क्या दशा होती? नीरो तो एक व्यक्ति था, कभी-कभी सारा समाज नीरो बन जाता है।

यह सच है कि भावों के उद्वेग में ही कला की उत्पत्ति होती है, परन्तु भाव से कलाकार पैदा नहीं होते, कलाकार भाव पैदा करते हैं। एक भूखे से पूछिए कि कला कहाँ है तो कहेगा रोटी में, एक अंधे से पूछिए तो कहेगा अँधेरे में, राजा कहेगा महलों में और रंक कहेगा झोपड़ी में, राजनीतिज्ञ कहेगा राजनीति में, धार्मिक कहेगा धर्म में। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की जैसी मनोवृत्ति होगी उसी रूप में वह अपने वातावरण को समझेगा, जिस प्रकार लाल चश्मा लगा लेने पर सारी दुनिया लाल दीखती है। यह चश्मा कला का गला घोंटता है, सत्य पर परदा डाल देता है। सच्चा कलाकार वही है, जो इस चश्मे को उतार फेंकता है और पैनी आँखों से सत्य की ओर देखता है। कलाकार भाव का गुलाम नहीं होता, भाव कलाकार का गुलाम होता है। वह रचना जो चश्मे के आधार पर हुई है, कभी सफल तथा सत्य या सुन्दर नहीं कही जा सकती। सच्ची कला की रचना तब होती है जब कलाकार कमल की भाँति कीचड़ में रहकर भी कीचड़ से ऊपर होता है और ऊपर रहकर भी अपनी जड़ उसी कीचड़ में रखता है, उससे ही अपनी खुराक लेता है। अर्थात् सच्चा कलाकार वह है जो नीचे रहकर भी ऊपर को जान ले और ऊपर होकर भी नीचे को पहचानता हो। वह समदर्शी होता है, वह भावों का गुलाम नहीं होता, भावों को उत्पन्न करता है।

किसी विख्यात कथाकार से जब पूछा गया कि प्रेम सम्बन्धी कथा-साहित्य का निर्माण सबसे अच्छा किस समय होता है? तो उसने कहा कि जब कथाकार ने प्रेम करना छोड़ दिया हो। जिस समय व्यक्ति स्वयं किसी के प्रेम में बँधा रहता है, उस समय यदि वह प्रेम पर कुछ लिखे तो वह प्रेम में अन्धा भी हो सकता है। जब वह प्रेम कर चुकता है और उससे काफी अनुभव प्राप्त कर लेता है, और स्वयं हृदय तथा मस्तिष्क से किये हुए अनुभव पर पुनः मनन करता है, तब उसे सच्ची अनुभूति प्राप्त होती है और तब उसकी रचना स्वस्थ तथा सुन्दर होती है, क्योंकि अब वह प्रेम का गुलाम नहीं है। कथाकार प्रेम में अन्धा होकर नहीं लिख रहा है, बल्कि प्रेम से ऊपर होकर प्रेम पर शुद्ध रूप से विचार कर रहा

है। इसी प्रकार क्षणिक भावावेश में आकर बिना भली-भाँति मनन किये उत्कृष्ट रचना नहीं हो सकती और अगर ऐसे समय रचना होती है, तो वह स्वस्थ नहीं होती। इस प्रकार यह समझना कि सच्ची कला की रचना उसी समय हो सकती है जब कलाकार भूखा हो, दरिद्र हो और दुनिया की मुसीबतों से जर्जरित हो गया हो, नितान्त मूर्खता है। ऐसी भावना उन्हीं लोगों की होती है जो कलाकार से उसी प्रकार की आह सुनने को उत्सुक होते हैं जैसी नीरो मनुष्य को शेर के कटघरे में डालकर सुनता था।

सच्ची और उत्कृष्ट कला की रचना उसी समय हो सकती है जब कलाकार के मन, मस्तिष्क और शरीर में सुडौलता रहती है। यदि एक कलाकार, जिसको हजार कोशिश करने पर भी दोनों समय का खाना नहीं जुटता, कविता की रचना करना चाहे तो उसके मन में सुडौलता कभी नहीं रह सकती। या तो वह भूख-तड़पन से पीड़ित रचना करेगा और समाज के अन्य व्यक्तियों के प्रति आग उगलेगा या, जिस प्रकार भूखा कुत्ता किसी को कुछ खाते देखकर जीभ तथा पूँछ हिलाता है और लार टपकाता रहता है, दया का पात्र बनेगा, दूसरों को कुछ देना तो दूर रहा।

सच्ची कला की रचना उसी समय हो सकती है, जब कलाकार सुखी और सम्पन्न हो, हृष्ट-पुष्ट हो, सुडौल विचारवाला हो, समाज से घृणा न करता हो, किसी के प्रति द्वेष न रखता हो, जीवन का मूल्य समझता हो। इसका यह तात्पर्य नहीं कि आज तक जितने उत्कृष्ट कलाकार हुए हैं उनको यह सब प्राप्त था। मेरा तो यह कहना है कि अगर उनको यह सब भी प्राप्त होता तो और भी ऊँची कला का निर्माण हुआ होता और आज उनकी देन से हमारा समाज और भी ऊँचे तथा सुडौल धरातल पर होता। कलाकार एक घड़े के समान है, जैसा जिसका घड़ा होता है, संसार से वह उतना ही उसमें भर पाता है। अगर घड़ा टेढ़ा-मेढ़ा है, फूटा हुआ है तो उसमें क्या रह सकेगा, यह साफ है। सुडौल, मजबूत तथा सुन्दर घड़ा ही अपने अन्दर कोई बड़ी तथा सुन्दर वस्तु रखने की कल्पना कर सकता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट रचना के लिए यह आवश्यक है कि कलाकार हर प्रकार से सुडौल हो, विशाल व्यक्तित्ववाला हो। उसे किसी प्रकार की लालसा न हो अर्थात् बनारसी भाषा में "मस्त रहनेवाला" हो। इसी मस्ती में उससे कुछ उत्तम रचना की आशा की जा सकती है। कलाकार चिन्ता से रहित हो, ऐसे त्यागी के समान हो जिसे कुछ पाने की लालसा न हो, अपितु समाज को कुछ देने की क्षमता हो। वह अपने लिए चिन्तित न हो बल्कि समाज की शुभकामना करता हो। समाज का व्यक्ति होते हुए भी समाज के दायरे से ऊपर उठकर समाज का निरीक्षण कर सकने की क्षमता रखता हो। अपने को अकेला न समझे बल्कि घट-घट में व्याप्त होने की क्षमता रखता हो। अपनी भावनाओं में बहनेवाला

न हो बल्कि दूसरों के भावों में प्रवेश करने की क्षमता उसमें हो । अपना दर्द लिये समाज को दर्दीला न बनाये बल्कि समाज के दर्द से व्यथित होनेवाला हो । अपनी खुशी में मस्त न हो बल्कि समाज की खुशी में हिस्सा लेनेवाला हो । समाज के साधारण व्यक्ति के समान मुसीबतों में रोनेवाला न हो बल्कि समाज का पथ-प्रदर्शन करने की क्षमता रखता हो ।

संसार में जीव जो कुछ करता है, सुख पाने की लालसा से करता है । सुख की वृद्धि के लिए ही समाज भी बनता है । जब व्यक्ति अकेले सुख प्राप्त करने में असमर्थ होता है, तब उसे समाज की शरण लेनी पड़ती है । समाज से उसे बल मिलता है, समाज की शक्ति उसे अधिक सुख की प्राप्ति कराने में सहायक होती है । मनुष्य बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक समाज पर आश्रित रहता है । वह जो कुछ सीखता है, अनुभव करता है या प्राप्त करता है, उसका आधार समाज ही होता है । व्यक्ति समाज का एक अंग है, जो समाज के द्वारा पोषित होता है । व्यक्ति का जो स्वरूप बनता है, वह उसका अपना रूप नहीं है और अगर है तो बहुत थोड़ा-सा, अधिकतर समाज का ही दिया हुआ रूप होता है । समाज यदि जननी है, तो व्यक्ति उसका बालक । जिस प्रकार बालक माता-पिता के गुणों को संचित कर विकसित होता है, उसी प्रकार व्यक्ति समाज के गुणों को संचित कर भविष्य के अनुरूप बनता है । मेढक का बच्चा मेढकों-सा ही व्यवहार सीखता है और मेढकों के ही समाज में रहना चाहता है, वह उनसे कभी अलग हो ही नहीं सकता । इसी प्रकार व्यक्ति अपने जीवन में सब कुछ समाज से ही सीखता है और उसी-जैसा व्यवहार करता है । उसके किसी व्यवहार को हम असामयिक व्यवहार नहीं कह सकते, क्योंकि वह समाज का ही बनाया हुआ है और उसके उचित या अनुचित कार्यों का उत्तरदायित्व भी उसी समाज पर है जिसका वह एक अंग है ।

जब व्यक्ति समाज का ही बनाया हुआ है, समाज पर ही आश्रित रहता है, तब यह कहा जा सकता है कि उसे अपनी सारी शक्ति समाज के हित तथा प्रगति के लिए प्रयोग करनी चाहिए । यही उचित है और न्याय-संगत भी । जब हम किसी से लेते हैं, तो उतना ही उसे देना भी चाहिए । अगर यह ठीक है तो व्यक्ति समाज को वही दे सकता है जो उसने पाया है । कलुषित समाज में पैदा हुआ तथा पला-पोसा व्यक्ति समाज को कालिमा ही देगा, यह स्वाभाविक है । मेढक मेढकों से पैदा होकर तथा तालाब के वातावरण में रहकर वही कार्य करेगा जो अन्य मेढक करते हैं, और जो तालाब के वातावरण में हो सकता है । मेढ़क न घड़ियाल बन सकता है, न तालाब के वातावरण में स्वच्छ कमल, उसका आचरण सदैव मेढकों का-सा ही होगा । परन्तु मेढक और मनुष्य में अन्तर माना गया है । अन्तर है मस्तिष्क का । मस्तिष्क की शक्ति अपार है, कल्पना से भी अधिक, परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क भी मनुष्य का ही मस्तिष्क है, उसी दायरे में है,

उससे परे नहीं है। मनुष्य वही कर सकता है जो मनुष्य की क्षमता के अन्दर है, जिस प्रकार मेढक तालाब में रहकर वही कर सकता है, जो मेढकों की क्षमता के भीतर है। अब प्रश्न यह है कि मनुष्य की क्षमता क्या है और कितनी है ? कभी-कभी तो मनुष्य की क्षमता को भी अपार माना गया है। यह क्षमता कहाँ से आती है; समझ में नहीं आता। जो भी हो, साधारण दृष्टि से मनुष्य की क्षमता वही हो सकती है जो उसे प्राप्त है और मनुष्य को अपनी उस शक्ति का उपयोग समाज में ही करना है, समाज से जो लिया है उसे समाज को ही देना है।

इस विचार से "कला कला के लिए है" यह न्याय-संगत नहीं मालूम पड़ता। कला मनुष्य का कार्य है, एक शक्ति है। मेढकों का कूदना, फुदकना, टर्र-टर्र करना भी एक प्रकार की कला है और जिस प्रकार उनकी कला का उपयोग उनके लिए तथा उनके समाज के अन्य मेढकों के लिए ही है, उसी प्रकार मनुष्य की कला का उपयोग भी उसके लिए तथा केवल मनुष्य के समाज के लिए ही है। मेढकों ने फुदकना तथा टर्र-टर्र करना मेढकों से ही सीखा है। उनकी इस कला का गुरु उनके माता-पिता तथा मेढकों का समाज ही है। उसी प्रकार मनुष्य भी कलाओं को अपने समाज से ही सीखता है, कला का कार्य करने की प्रेरणा भी उसे अपने सामाजिक जीवन की अनुभूतियों से ही प्राप्त होती है। उसकी कला का रूप उसकी अनुभूतियाँ होती हैं, फिर "कला कला के लिए है" यह कैसे कहा जा सकता है ? लेकिन "कला कला के लिए है" यह विचार बड़ा प्राचीन है और इसमें विश्वास करने वाले आज भी बहुत से हैं। आधुनिक पिकासोवाद, सूक्ष्मवाद, क्यूबिज्म, सूरियलिज्म, इत्यादि सभी "कला कला के लिए है" से प्रभावित कहे जा सकते हैं, क्योंकि इन सभी प्रकार की शैलियों में सामाजिक चित्रण बहुत ही कम मिलता है, और मिलता भी है तो ज़ोर अन्य वस्तुओं पर दिया होता है, ख़ास कर रूप तथा रंग पर। ऐसे चित्र में विषय गौण-सा रहता है। इन चित्रों का आनन्द साधारण समाज नहीं ले पाता, परन्तु कलाकार इनसे बहुत आनन्द पाता है। ऐसे कलाकारों से लोग शिकायत करते हैं कि उनके चित्र जनता की समझ में नहीं आते। उस पर आधुनिक कलाकार चुप रहता है और इसकी चिन्ता नहीं करता कि उसके चित्र समाज को पसन्द हैं या नहीं। ऐसी स्थिति में ही लोग कला को कला के लिए समझने लगते हैं, तब कलाकार समाज का ख्याल करता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। यह स्थिति देखकर ही फ्रांसीसी विचारक लकांतदलिस्ल Leconte de Lisle ने कहा है—

"कलाकार उसी समय इस विचार की ओर झुकता है कि "कला कला के लिए है," जब वह अपने को अपने समाज से जुदा पाता है।" अर्थात् जब समाज कलाकार की कृतियों का मूल्य समझने में असफल होता है और कला का आदर करना त्याग देता है, तब कला-

काल्पनिक चित्र
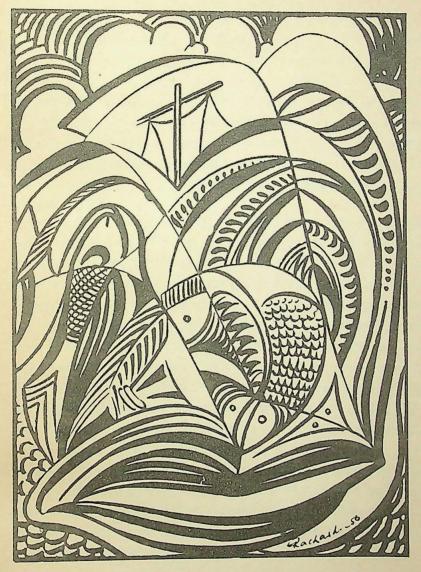
भँवर के बीच में

कार निराश होकर कला का कार्य करना नहीं छोड़ देता, बल्कि कला का कार्य फिर भी करता जाता है और उसका आनन्द अब स्वयं लेता है। उसे समाज से प्रशंसा की आशा नहीं रहती। ऐसे समय जब उससे कोई कुछ पूछता है तो वह यह न कहकर कि वह समाज के लिए कला की रचना करता है; कहता है कि वह अपनी रचना कला के लिए करता है, अर्थात् उसे उसमें मज़ा आता है, इसलिए करता है। वह ऐसा दूसरों को दिखाने के लिए नहीं करता। ठीक भी है उसका ऐसा कहना, क्योंकि अगर वह कहे कि वह अपनी रचना समाज के लिए करता है, तो लोग कहेंगे कि समाज तो उसकी रचना को समझ ही नहीं पाता, न उसका कोई आनन्द ही ले पाता है, तब कैसे वह कहता है कि वह अपनी रचना समाज के लिए करता है? इसीलिए कलाकार यही कहना उचित और हितकर समझता है कि 'कला कला के लिए है।'

एक बार किसी गाँव का एक धनी व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ पहली बार शहर घूमने आया। बाजार में एक दूकान पर बड़ी भीड़ लगी थी और तरह-तरह के स्त्री-पुरुषों की तस्वीरें टँगी थीं। दोनों वहीं रुक गये और यह जानने का प्रयत्न करने लगे कि आखिर माजरा क्या है। एक अन्य देहाती को दूकान से बाहर निकलते हुए देखकर अपनी भाषा में उससे पूछा—"का गुरू, काहे क भीड़ लागल बा?" बाहर निकलते हुए देहाती ने अपनी तथा अपनी स्त्री का फोटो दिखाकर कहा—"गुरू देखा, कैसन निम्मन बनौलेस हौ।" हमारे देहाती की स्त्री इन चित्रों को देखकर अपना फोटो खिंचवाने के लिए मचल पड़ी। दोनों दूकान में गये और फोटो खिंचवायी। फोटो जब हाथ में आयी तो सज्जन अपनी स्त्री का चित्र देखकर बड़े प्रसन्न हुए, पर जब स्त्री ने अपने पतिदेव का चित्र देखा तो उसे बड़ा अचम्भा हुआ। पतिदेव की एक आँख का चित्र में नाम-निशान न था। स्त्री ने पति के कान में कुछ कहा। पति ने मारे नाराजगी के चित्र दूकान पर पटक दिया और कहा "मखौल करत हौवा महराज?" वह डंडा सम्हाल ही रहा था कि दुकानवाले ने हाथ-पैर जोड़कर उन्हें किसी तरह बिदा किया। समाज के इस देहाती का फोटोग्राफर ख्याल नहीं कर सका, क्योंकि उसने इस देहाती का फोटो ऐसा खींचा था जिसमें केवल एक ही आँख दिखाई पड़ती थी। परन्तु बेचारे देहाती ने तो यही समझा कि फोटोग्राफर ने उसे काना बना दिया। फोटोग्राफर का चित्र, उसकी मेहनत, उसकी कला सब बेकार हो गयी; क्योंकि समाज के देहाती को वह खुश न कर सका।

इसी प्रकार एक बार विश्वविख्यात डच कलाकार रेम्ब्रां को खेलाड़ियों की किसी टोली ने अपना ग्रूप चित्रित कराने के लिए आर्डर दिया। कुछ दिन बाद जब चित्र तैयार हुआ तो खेलाड़ियों को वह चित्र पसंद न आया। कारण यह था कि रेम्ब्रां अपने चित्रों में छाया तथा प्रकाश का प्रयोग अधिक करता था। प्रकाश को कहीं-कहीं डालकर चित्र के

पात्रों को उभारता था जिससे चित्र में एक विलक्षणता आ जाती थी। ऐसे चित्र में पात्र का रूप बिलकुल साफ नहीं दिखाई पड़ता, कभी-कभी पात्र अँधेरे में पड़ जाता है। यही हाल खेलाड़ियों के चित्र का भी हुआ। ग्यारह खेलाड़ियों में से कुछ का, जो प्रकाश में थे, रूप साफ-साफ था तथा पहचाना जाता था, पर अँधेरे में पड़े खिलाड़ियों का रूप धूमिल था और पहचान में नहीं आता था। ऐसे खेलाड़ियों ने चित्र को नापसन्द कर दिया। रेम्ब्रां कुछ न बोला, और चाकू से उस बड़े चित्र को टुकड़े-टुकड़े कर डाला। पेशगी ली हुई रकम वापस करके खेलाड़ियों को बाहर कर दरवाजा बन्द कर लिया। ऐसे समय में रेम्ब्रां अगर कहे कि--कला कला के लिए है', तो क्या अनुचित है ?

कलाकार, दार्शनिक या वैज्ञानिक समाज के उपयोगी अंग हैं। यह तो आज कोई नहीं कह सकता कि कला, दर्शन या विज्ञान के आविष्कार ने समाज को लाभ नहीं पहुँचाया; परन्तु आज भी कलाकार, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक का स्थान समाज में निराला होता है। इनका जीवन प्रायः अधिक सामाजिक नहीं हो पाता। साधारण लोग इनके गुणों तथा कार्यों से अपने समय में परिचित नहीं हो पाते और यही कारण है कि इन विभूतियों का सामाजिक जीवन कष्टप्रद हो जाता है। फिर भी समाज इनको भविष्य में ऊँचा स्थान देता है और इनसे समाज का कल्याण होता है।

आधुनिक चित्रकार की मनोवृत्ति

प्रायः लोगों को यह कहते सुना गया है कि "भाई, मैं चित्रकला का पारखी बिलकुल नहीं हूँ और मैं इसको देखकर कोई विशेष आनन्द भी नहीं ले पाता; यह तो चित्रकारों का काम है कि उसे लोगों को समझायें और स्वयं भी आनन्द लें।" यही नहीं, यदि अकस्मात् वे किसी चित्र-प्रदर्शनी में पहुँच भी गये तो कुछ क्षण यहाँ-वहाँ घूमकर कमरे की चारों दीवारों, द्वारों में टँगे चित्रों के सुनहले फ्रेमों को देखकर बाहर चले आते हैं; यही क्या कम बात है? प्रदर्शनी में आये और लोगों ने उन्हें देख तो लिया कि उन्हें भी चित्रकला से प्रेम है और उसका ज्ञान है। इससे अधिक वे कर ही क्या सकते हैं। कुछ अंश तक यह ठीक भी है। परन्तु इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि चित्रकला का वर्तमान समाज में कोई स्थान नहीं है और यदि यही स्थिति रही तो कदाचित् चित्रकला का नाम भी समाज भूल जायगा। वे भी आधुनिक सभ्य नागरिक हैं और यह है वर्त्तमान भारतीय समाज की प्रगति।

इन कतिपय पंक्तियों से पाठकों का हृदय किंचित् दुःखित हुआ होगा, जिसका कारण स्पष्ट है। आधुनिक चित्रकला मनोवैज्ञानिक है, यद्यपि प्राचीन चित्रकला उसका अपवाद नहीं है। चित्रकला की वर्तमान प्रगति को यदि मनोवैज्ञानिक नहीं समझ पाये तो उसे कोई नहीं समझ पायेगा। आज चित्र को समझने के लिए चित्र का मनोविज्ञान समझना अत्यावश्यक है। आप कहेंगे, चित्र तो जड़ पदार्थ है, इसमें मन कहाँ? परन्तु आप इसे भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि चित्र निर्जीव नहीं होते। इससे सभी सहमत होंगे कि चित्र, चित्रकार के मनोभाव का प्रतीक होता है। अतः चित्रकार के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के माध्यम से हम सरलतापूर्वक चित्रों के मनोवैज्ञानिक सत्य का साक्षात्कार करके ही वर्तमान चित्रकला की नयी धारा का स्वागत कर सकेंगे।

आज से पहले भारत की चित्रकला अपने स्वर्णयुग को देख चुकी है, अपने अवसान को भी उसे देखना पड़ा है; अब वह नये युग में है और नया रूप लेने के लिए उत्सुक है। आज से पहले की चित्रकला भारत में धर्म-प्रचारक थी, और धर्म का गुणगान करना ही

उसका एकमात्र कार्य था। उसे धर्म का दास समझना चाहिए। चित्रकला धर्म की सीमा में दौड़ लगाती रही और वह उससे मुक्त न हो पायी। जो मुक्त नहीं वह कला नहीं कुछ और है, कम से कम उसे ललितकला में स्थान नहीं मिल सकता। उस समय चित्रकार पहले धार्मिक होता था, फिर चित्रकार। उस समय चित्रकला का कार्य धार्मिक भावों का यथातथ्य चित्रण करना था और यह काम उन चित्रकारों ने यत्नपूर्वक किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु उन्होंने जो कुछ किया, कला की दृष्टि से, विशेषत: आधुनिक कलाकार की विचारधारा से, संदेहास्पद है।

उस समय चित्रकार आज से कुछ अधिक प्रसन्न था, क्योंकि वह धर्म के प्रचार का एक मुख्य अंग था, इसलिए धार्मिक-समाज उसको एक उच्च स्थान देता था, उसके जीवन के सभी साधनों और आवश्यकताओं की पूर्ति करता था, वह अन्नजल से परिपूर्ण था। अत: उसने अत्यन्त उत्कृष्ट कला का निर्माण किया जो आज भी हमें अजन्ता, एलोरा, एलिफैण्टा इत्यादि में देखने को मिल जाती है।

मध्यकालीन युग में मुगल तथा राजपूत चित्रकला ने भी अपना स्वर्ण-युग देखा। मुगल सम्राटों, नवाबों के मनोरंजन और विलासिता का वह साधन बनी। यह उनकी क्षणिक पिपासा की पूर्ति का साधन थी। उस समय भी चित्रकार आज से अधिक प्रसन्न और सुखी था। कहना न होगा कि वह एक दास था और अपने भाग्य को कोसता रहता था।

तत्पश्चात् अंग्रेजों ने भारत को स्वर्ण-युग प्रदान किया। वह कैसा था, यह हम सबने अपनी आँखों से देखा है और उसकी छाया आज भी हमारे चारो ओर से हटी नहीं है। आज के चित्रकारों ने भी वह युग देखा है और उनकी आँखों पर उसका प्रमाण अंकित है। चित्रकार राजा रविवर्मा इस स्वर्ण-युग के प्रवर्तक थे और डा० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के बंगाल स्कूल ऑफ आर्ट ने इसकी अन्त्येष्टि क्रिया की। इस प्रकार के स्वर्ण-युग की कल्पना से भी आज का चित्रकार दूर भागना चाहता है। यह है संक्षिप्त रूप से आज के चित्रकार का मनोविज्ञान।

आज का चित्रकार स्वतंत्र भारत में साँस ले रहा है। आज वह परिस्थितिवश कला में उससे कहीं अधिक स्वतंत्रता का आभास पा रहा है। यदि हम आज के चित्रकार की परिस्थितियों का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि चित्रकार आज जितना मुक्त है, पहले कभी न था। आज वह धर्म के प्रपंचों से मुक्त है, राजा-महाराजाओं, सम्राटों, नवाबों की ठकुरसुहाती से मुक्त है और समाज के बंधनों से भी मुक्त है। समाज को आज अवकाश नहीं है कि चित्रकार की ओर ध्यान दे सके या उसे जीविका प्रदान कर सके। आज चित्र-

कार अपनी चित्रकला से जीविकोपार्जन भी नहीं कर पाता, उसे इसके लिए अन्य मार्ग का आश्रय लेना ही पड़ता है। ऐसी स्थिति में वह अपनी चित्रकला के क्षेत्र में पहले से कहीं अधिक मुक्त हो गया है। उसे समाज की चिन्ता नहीं है। वह आज चित्रकला में समाज के कन्धे से कन्धा मिला कर चलना नहीं चाहता, प्रत्युत पूर्ण स्वतंत्र होकर समाज पर शासन करने की इच्छा रखता है और नवनिर्माण की कामना करता है। यही स्वतंत्रता और नव-निर्माण की कल्पना आज की कला का मूल मंत्र है। आज चित्रकार पथगामी नहीं, प्रत्युत पथ-प्रदर्शक बनना चाहता है, यह है उसका मनोविज्ञान।

नवभारत का स्वतंत्र चित्रकार केवल एक कारीगर की भाँति कार्य नहीं करना चाहता, प्रत्युत सर्वप्रथम वह एक दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक की भाँति काम करने का विचार करता है। अपने जीवन-दर्शन को निर्धारित करता है और उसी के अनुसार अपनी साधना का एक लक्ष्य बनाता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु एक सिद्धान्त निश्चित करके एक अभिनव शैली का आविष्कार करता है। वह केवल परम्परा का सहारा नहीं लेना चाहता, अपितु अपनी बुद्धि, विवेक और अनुसन्धान के बल पर कार्य करना चाहता है। इसीलिए आधुनिक चित्रकला में अनेकों प्रकार के नये-नये रूप सामने आ रहे हैं और यही कारण है कि हमें उन्हें समझने में कठिनाई होती है। ज्यों ही हम एक प्रकार की कला की परिभाषा निश्चित करते हैं त्यों ही उसकी दूसरी परिभाषाएँ बन जाती हैं, जो सर्वथा भिन्न होती हैं। वर्तमान युग का यह एक प्रचलन-सा ही गया है कि कला में प्रत्येक चित्रकार एक नये रूप का अनुसंधान करता है। इस प्रकार के अनेकों रूप यूरोप और वर्त्तमान भारतीय कला में आविष्कृत होते चले जा रहे हैं। साधारण व्यक्ति को न इतना ज्ञान है, न इतना अवसर है कि इन नये-नये रूपों को समझ सके अथवा उनका आनन्द उठा सके। उसके लिए आधुनिक चित्रकला एक पहेली-सी बन गयी है।

परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान दिन पर दिन उन्नति की ओर बढ़ रहा है, यहाँ तक कि आज हम उसके द्वारा रोगियों, विक्षिप्तों, बन्दियों आदि के मनोभावों को समझकर उनका उपचार भी करने लगे हैं। तो क्या हम चित्रकारों के मनोविज्ञान को समझकर उनके चित्रों को नहीं समझ सकते? आधुनिक चित्रों के समझने का एक ही माध्यम है और वह है उनका मनोविज्ञान।

वर्तमान चित्रकलागत मनोविज्ञान को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें चित्रकार की स्वाभा-विक आवश्यकता की पूर्ति पर ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक चित्रकार में निर्माण का सहज ज्ञान सबसे अधिक बलवान् होता है। चित्रकला की सफलता सहज ज्ञान पर ही आश्रित है। वैसे तो प्रायः सभी मनुष्यों में यह शक्ति होती है, पर चित्रकार के अन्तःकरण में इसका

प्रस्फुटन अत्यावश्यक है। ईश्वर में, जो प्रकृति का स्रष्टा माना जाता है, निर्माण का सहज ज्ञान बहुत बलवान् है। तभी तो क्षण-क्षण में उसकी सृष्टि अपना रूप बदलती रहती है इसीलिए कहा गया है कि सृष्टि अगम है इसीलिए ईश्वर एक महान् कलाकार माना गया है। अतः जिस चित्रकार में जितना ही अधिक रचनात्मक सहज ज्ञान होगा वह उतना ही उच्च कलाकार हो सकेगा।

आधुनिक चित्रकला में चेतनकला का स्थान प्रमुख है। आधुनिक चित्रकार कल्पना में पूर्ण विश्वास रखता है। वह उसके सहारे नये रूपों का निर्माण करना चाहता है और वे नये रूप इतने नये हों जो प्रकृति में भी देखने को न मिल सकें। इसीलिए आधुनिक चित्रकला का रूप बहुत ही सूक्ष्म हो गया है।

यूरोप में इस प्रकार की सूक्ष्म-कला का काफी प्रचार हो गया है। पिकासो, हेनरी मूर, मातिस, सेज़ान इत्यादि की कला सम्पूर्ण संसार में विख्यात हो चुकी है। भारत में भी बहुत-से चित्रकार आगे आ रहे हैं, यामिनी राय, जार्ज कीट, आर० एन० देव और राचशु इत्यादि। आधुनिक युग सूक्ष्म चित्रकला का युग है और इस सूक्ष्म चित्रकला की कुंजी मनोविज्ञान रहा है। चित्र में क्या बनाया गया है वह इतने महत्त्व का नहीं है जितना यह समझना कि चित्र में जो कुछ बना है, वह चित्रकार ने किस मानसिक परिस्थिति में बनाया है। इस मानसिक परिस्थिति का ज्यों ही ज्ञान होता है, दर्शक को उस चित्र में आनन्द मिलने लगता है। इसके लिए दर्शक को रूप और रंग का मनोविज्ञान अवश्य जानना चाहिए, तभी वह आधुनिक मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म-चित्रों का आनन्द ले सकता है।

यहाँ हमारे लिए प्रकृति और कला का भेद समझना आवश्यक है। प्रकृति का रचयिता ईश्वर होता है, परन्तु कला मनुष्य की रचना को कहते हैं। कश्मीर की सुन्दर घाटियाँ, हिमालय का धवल-शिखर, आसाम के अद्भुत वन, अरब सागर का विस्तृत-तट, प्राची का सूर्य, तारों से जगमगाती रातें, चाँद का सलोना रूप यह सब कला नहीं है परन्तु आगरे का ताजमहल, भुवनेश्वर के भव्य-मंदिर, अजंता की गुफाएँ, दिल्ली का किला, दमदम का पुल इत्यादि कलाएँ हैं और मनुष्य की कला के उदाहरण हैं।

जिस प्रकार ईश्वर की प्रकृति का अन्त नहीं है, उसी प्रकार मनुष्य की कला का छोर नहीं है। ईश्वर की प्रकृति कल्पना के परे है और यही कल्पना मनुष्य की कला की सीढ़ी है।

आधुनिक कला का विषय

कला का सदैव कोई विषय हुआ करता है । भारत की सारी प्राचीन कला का विषय अधिकतर धर्म, भगवान् के अवतार, उनकी लीलाएँ, देवी-देवताओं के चरित्र, राजा-महाराजा तथा उनके राज-दरबार का जीवन या सामाजिक जीवन इत्यादि रहा है। संसार की सभी कलाओं का विषय धर्म रहा है । इन प्राचीन चित्रों को देखकर यह भावना सहज ही उठती है कि कला का कोई विषय होना आवश्यक है । चित्र में कोई कथा, चरित्र या दृश्य होना चाहिए । भारत में इस शताब्दी के आरंभ में बंगाल-शैली की चित्रकला में भी विषय पर बहुत ध्यान दिया गया और इसमें भी अधिकतर विषय धार्मिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक थे ।

आजकल धर्म का प्रभाव क्रमशः क्षीण होता जा रहा है, क्योंकि धर्म को माध्यम बनान में अधिक लाभ के स्थान पर हानि ही होती है । आज का मनुष्य धार्मिक झगड़े में पड़ना उचित नहीं समझता, न उसके पास समय ही है, यदि वह प्रगति करना चाहता है तो । आज धर्म से अधिक महत्त्व मानव-धर्म को दिया जा रहा है । मनुष्य एक साथ मिलजुल कर किस प्रकार आगे बढ़ सकता है, यही मुख्य समस्या है । यही कारण है कि धार्मिक चित्रों के स्थान पर सामाजिक चित्रण का प्रचलन बढ़ता जा रहा है । जनता तथा समाज की दृष्टि से भी सामाजिक चित्र का महत्त्व अधिक है । जनता चित्रों में आज की सामाजिक अवस्था देखना चाहती है, परन्तु आधुनिक चित्रकला इधर कुछ वर्षों से इससे भी विमुख होती दीख पड़ रही है । वह एक नवीन दष्टिकोण बनाने के प्रयत्न में है जिसे सूक्ष्मवाद कहा जा सकता है । इस कला का विषय क्या होता है, यह साधारण दृष्टि से नहीं समझा जा सकता और यह कहा जा सकता है कि उसमें कोई विषय होता ही नहीं ।

चित्रकला में यह सूक्ष्मवाद बड़े वेग से फैल रहा है और प्रायः प्रत्येक आधुनिक चित्रकार उसके प्रभाव से बच नहीं सका है, यदि वह आँख खोलकर कार्य कर रहा है तो । धर्म का बोलबाला तो कम हो गया, परन्तु उसके बाद आधुनिक समाज में विकृति भी प्रवेश कर गयी, प्रधानतया पूँजीवाद के कारण । समाज का सुख तथा वैभव धीरे-धीरे उठकर पूँजीपतियों के तहखाने में जमा हो गया । समाज खोखला हो गया, कमजोर हो गया,

पथभ्रष्ट हो गया, बुद्धिहीन तथा सौन्दर्य विहीन हो गया। आज का व्यक्ति रोटी के विकट प्रश्न को सुलझाने में जी-जान से लगा है, पर प्रश्न दिन पर दिन उलझता ही जाता है। समाज के पास समय नहीं कि वह कला की ओर ध्यान दे, उसके जीवन में कला को कोई स्थान प्राप्त नहीं। कलाकार और उसकी कला समाज पर आश्रित है। कलाकार बेसहारा हो गया। कलाकार जानता है, आज समाज में उसकी कला की कोई पूछ नहीं है। वह यह भी समझता है कि उसकी कला की क्या शक्ति है। समय के अनुसार कला भी नाना रूप धरकर कुबुद्धि का संहार कर सकती है, यह उसे ईश्वरीय वरदान है। आधुनिक कला और प्रधानतया सूक्ष्म-कला समाज के सम्मुख एक ऐसा ही रूप है और कला का ऐसा रूप तब तक रहेगा जब तक समाज होश में नहीं आता।

सूक्ष्म चित्रकला में प्राचीन चित्रकला की भाँति विषय नहीं होता और यदि होता है तो प्राचीन कला से भिन्न। प्राचीन कला का विषय किसी कथा, पुराण या सामाजिक दृश्य या पात्रों के चरित्र से सम्बन्धित होता है। जैसे अजन्ता के चित्र बौद्ध धर्म-कथाओं तथा बुद्ध-चरित्र से सम्बन्धित थे, मुगल-चित्रण दरबारी जीवन से, राजपूत चित्रकला देवी-देवताओं तथा गोपी-कृष्ण के जीवन और समाज से सम्बन्धित थी। सूक्ष्म-कला में वैसा कोई सम्बन्ध नहीं होता।

सूक्ष्म चित्रकला का रूप वैसा ही शक्तिशाली तथा विराट है जैसा काल्पनिक तथा सत्यरूप प्रलय का हो सकता है। प्रलय का रूप मनुष्य को भयानक लगता है, पर वह सत्य है। प्रलय होता है, प्रलय के समय सारे संसार और ब्रह्माण्ड का सिद्धान्त रद्द हो जाता है। जो न होना चाहिए वही होता है। वह कौन-सी शक्ति है जो कि प्रकृति के नियमों में उलट-फेर कर देती है? भारतीय धर्म के अनुसार वह शिव-ताण्डव है। शिव का ताण्डव कला की अद्वितीय कृति है, और कहा जाता है कि यह नृत्य या कला की कृति, संसार का संहार करने के लिए नहीं, वरन् पुनः सृष्टि करने के निमित्त होती है। सृष्टि का आधार प्रलय या विध्वंस है। इसी प्रकार जब चित्रकला तथा अन्य कलाओं का समाज अनादर करता है, तो उस समय कला अपना वह रूप धारण कर लेती है, जिससे प्रलय तथा विध्वंस और भी पास आ जाता है। कला सभी सिद्धान्तों से विमुख होकर स्वच्छन्द तथा सूक्ष्म हो जाती है, और तभी उसमें प्रलय-जैसी शक्ति आ जाती है। ऐसी कला का बहुत महत्त्व है। कलाकार जब मिट्टी की प्रतिमा बनाना चाहता है तो वह भीगी मिट्टी लेकर अपनी कल्पना का साकार रूप उस मिट्टी में देखना चाहता है। परन्तु कभी-कभी लाख प्रयत्न करने पर भी तथा आवश्यक सिद्धान्तों पर चलने पर भी कलाकार उस रूप की प्राप्ति नहीं कर पाता, जिसकी कल्पना उसने की थी। कलाकार हार नहीं मानता, वह थोड़ी देर के लिए खिन्न होकर बनी हुई प्रतिमा को रद्द कर देता है और उसको

फिर मिट्टी का रूप दे देता है, विध्वंस करता है और पुनः उस मिट्टी को लेकर सावधानी के साथ अपनी काल्पनिक प्रतिमा निर्मित करता है। प्रत्येक कलाकार इस प्रकार के विध्वंस या प्रलय का मूल्य जानता है और समय आने पर उसका उपयोग करता है।

आज चित्रकार यह जानता है कि उसकी कला का मूल्य समाज में कुछ नहीं, पर उसे अपना कर्त्तव्य करना ही है। जिस प्रकार प्रकृति का कार्य नहीं रुकता, उसी प्रकार कलाकार का कार्य रुकना नहीं जानता। वह रचना करता जाता है, भले ही उसे उसका मूल्य न मिले और समाज उसकी कला का आदर न करे। जब तक समाज कला का आदर करता है, तब तक कलाकार समाज का भी आदर करता है, परन्तु जब समाज की आँख पर पर्दा पड़ जाता है, या पुतलियाँ ज्योति-हीन हो जाती हैं, तो कला का सर्वप्रथम कार्य होता है उन ज्योति-हीन पुतलियों को नष्ट कर उनके स्थान पर नयी पुतलियाँ बैठाना और उन पर पड़े पर्दे को हटाकर पुनः उन्हें ज्योतिर्मय बनाना। आधुनिक कला ने जो सूक्ष्म रूप अपनाया है, उसका कारण यही है कि वह एक बार समाज की आँखों की खोयी ज्योति वापस ला सके। यह समय की पुकार है, इसकी आवश्यकता है।

यूरोप में पिकासो इस सूक्ष्म-कला का प्रवर्त्तक है और उसके हजारों अनुयायी हैं, जो निरंतर बढ़ते जा रहे हैं। यूरोप में सभी आधुनिक कलाकार सूक्ष्म-चित्रण में भाग ले रहे हैं। भारत में भी इस कला का प्रचार हो रहा है।

सूक्ष्म चित्रकला में कलाकार प्रकृति की रचना का रहस्य समझने का प्रयत्न करता है और उसी खोज के आधार पर, उसी से प्रेरणा लेकर स्वयं रचना करता है। प्रकृति में नाना प्रकार के रूप, आकार तथा वस्तुएँ पायी जाती हैं जो अगणित हैं। प्रकृति के जिन रूपों को तथा वस्तुओं को मनुष्य उपयोगी समझता है उनका नामकरण कर देता है। किन्तु अभी करोड़ों ऐसे रूप तथा वस्तुएँ प्रकृति में बिखरी पड़ी हैं और निरंतर नये-नये रूप बनते जा रहे हैं, जिनको न अभी मनुष्य जान सका है, न कल्पना ही कर सका है और न उनका नाम ही जानता है। इसी प्रकार सूक्षम चित्रकार भी प्रकृति की भाँति सरल रचनात्मक प्रवृत्ति से प्रभावित होकर रचना करता है, नये-नये रूपों, आकारों तथा वस्तुओं को, जिनको पहचाना नहीं जा सकता। उनका रूप सूक्ष्म तथा नया होता है। देखने में इन चित्रों में अजीब-अजीब रहस्यपूर्ण रूप दिखाई पड़ते हैं, जिनको स्वयं चित्रकार भी नहीं पहचान सकता, फिर भी चित्रों को देखकर मन में अनेक प्रकार के भाव उमड़ पड़ते हैं। दर्शक के मन में, चित्र देखकर, अनायास जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जो प्राचीन चित्रों को देखकर साधारण दर्शक के मन में कभी नहीं उठती थी, और यही आधुनिक सूक्ष्म-चित्र की सफलता है कि एक बार पुनः साधारण दर्शक चित्रों से प्रभावित हो रहा है और उनको

समझने तथा उनका आनन्द लेने के लिए उत्सुक है। इस प्रकार की सूक्ष्म चित्रकला का प्रचार तब तक रहेगा, जब तक जन-साधारणपूर्ण रूप से चित्रकला की ओर आकृष्ट नहीं हो जाता।

सृष्टि का आरम्भ विध्वंस तथा प्रलय से हुआ है और क्रमशः सृष्टि में प्रगति होती जाती है, प्रगति अपनी चरम सीमा पर भी पहुँचती है। इसी प्रकार संस्कृति का भी विकास होता है, इस बीसवीं शताब्दी में संस्कृति अपनी चरम सीमा पर पहुँचती दीखती है। और यही वह सीमा है, जिसके बाद विध्वंस होता है, प्रलय होता है और इसके पश्चात् फिर सृष्टि होती है। इस बीसवीं शताब्दी में शायद कला भी अपनी चरम सीमा पर पहुँचना चाहती है, इसीलिए चित्र में विध्वंस का निर्माण करना आवश्यक हो गया है। पूर्ण रूप से विध्वंस का चित्रण होने के पश्चात् पुनः कला-सृष्टि का आरम्भ होगा।

यह प्रवृत्ति क्रान्तिकारी है और इससे नयी सृष्टि का आरम्भ होता है।

कला का कार्य

कला और साहित्य समाज के जीवन-दर्पण माने गये हैं, अर्थात् कला का कार्य है अपने समय के सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति करना । इस परिभाषा के अनुसार आधुनिक चित्रकला को वर्त्तमान सामाजिक जीवन का ही चित्रण कहना चाहिए, परन्तु आज भी भारतीय चित्रकार प्राचीन विषयों पर चित्रण करते हैं । प्राचीन समय में भारतीय चित्र-कला के विषय अधिकतर धार्मिक तथा ऐतिहासिक होते थे, जैसे—राम, कृष्ण, बुद्ध तथा अन्य देवी-देवताओं के जीवन तथा लीला-सम्बन्धी चित्र । आज भी भारत में अधिकतर चित्र धार्मिक या ऐतिहासिक बनते हैं, यद्यपि कुछ नये तथा युवक कलाकारों ने इसके विरुद्ध आज के सामाजिक जीवन का चित्रण आरम्भ कर दिया है ।

यदि हम प्राचीन चित्रों के विषय तथा पात्रों के जीवन, रहन-सहन, वेश-भूषा पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि वह जीवन अधिकतर साधारण जीवन से दूर, कुछ दार्शनिक धरा-तल पर, एक वैभवशाली समाज का चित्रण है । भारत में सबसे प्राचीन चित्र अजंता के हैं । अजंता की चित्रशाला में जो चित्र अंकित हैं उनमें अधिकतर चित्र राजा-महाराजाओं, राज-कुमारियों के सुनहले जीवन के चित्र हैं, या बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित संन्यासी जीवन के चित्र । ये दोनों प्रकार के चित्र आज के साधारण जीवन से बहुत दूर हैं, किन्तु फिर भी भारत में इनका बहुत प्रचार है और बंगाल-शैली के चित्रकारों ने तो अपने अधिकतर चित्र उसी प्रेरणा पर आधारित किये हैं ।

भारत की अन्य प्राचीन चित्र-शैलियों में भी जैसे जैन, मुगल, राजपूत तथा पहाड़ी, कला में, उस समय के वैभव तथा चमक-दमक का ही चित्रण मिलता है और विषय भी धार्मिक या ऐतिहासिक होता है । कला की दृष्टि से ये सभी शैलियाँ प्रशंसा के योग्य हैं और इन्होंने समय-समय पर भारत का गौरव बढ़ाया है । आज हम भले ही दूसरे प्रकार की नयी शैलियों को, जो आज के समयानुकूल हैं, आरम्भ करें, परन्तु इन प्राचीन चित्रकला-शैलियों का महत्त्व कम नहीं किया जा सकता ।

संसार का कोई भी दर्शन या सिद्धान्त यह नहीं कह सकता कि वह अपने देश या समाज के जीवन को सुखी, समृद्धिशाली तथा प्रगतिशील नहीं बनाना चाहता । ऐसा करने के लिए

देश के दार्शनिक, नेता, साहित्यकार, वैज्ञानिक या कलाकार को अध्ययन करना पड़ता है, भविष्य को कल्पना करनी पड़ती है, और नये-नये रास्ते खोजने पड़ते हैं। जब हम आज के जोवन से सन्तुष्ट नहीं हैं, तो अधिक सुखमय या प्रगतिशील जीवन पाने के लिए हमें अपने भविष्य की कल्पना करनी पड़ती है। हम जानते हैं कि आज का भारतीय समाज सदियों से गुलामी में जकड़े रहने के कारण विकृत हो गया है, पिछड़ गया है। यहाँ अविद्या है, गरीबी है, बेकारी है और तमाम खराबियाँ हैं। आज का भारत इन्हीं का प्रतीक-सा हो गया है। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि यदि कला तथा साहित्य अपने समय के समाज के दर्पण हैं तो उन्हें आज केवल इसी विकृत रूप का चित्रण करना चाहिए। परन्तु इसका परिणाम क्या होगा ? इन चित्रों में आज के समाज का विकृत, कलुषित रूप देखकर समाज को क्या लाभ होगा ? यही कि वह उन्हें देखकर पछताये या उन्हीं को सत्य और सही समझ कर उसी का अनुकरण करे। इससे तो कोई प्रगति नहीं होगी, समाज जहाँ का तहाँ रहेगा और शायद और भी विकृत हो जायगा। जब तक हम समाज के सम्मुख सही रास्ता नहीं रखते, उसका पथ-प्रदर्शन नहीं करते, उसको सुख-प्राप्ति के नये साधन नहीं बता सकते, तब तक ऐसी कला, साहित्य या विज्ञान से लाभ ही क्या ?

कला यदि केवल समाज का दर्पण है, तो ऐसे दर्पण में वर्तमान समाज अपने कलुषित रूप को ही देख पाता है। परन्तु कला यदि ऐसा ही दर्पण है कि उसे देखकर हम अपने मुँह पर लगी कालिमा को तो देख लें, पर उसे दूर करने की विधि, कोई तरीका न प्राप्त कर सकें, तो कला को सचमुच एक निर्जीव दर्पण ही समझना है। परन्तु कला और दर्पण में बहुत अन्तर है। दर्पण एक निष्प्राण वस्तु है, इसका कार्य निश्चित है और एक परिधि के भीतर है। दर्पण केवल वही रूप अपने में प्रतिबिम्बित कर सकता है, जो उसके सम्मुख होता है, परन्तु कला ऐसी निर्जीव वस्तु नहीं है। कला की रचना मनुष्य करता है, मनुष्य कला के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करता है, उसके मस्तिष्क में तथा हृदय में जो कुछ आता है वे सभी विचार और भावनाएँ वह अपने चित्र में अंकित करता है। मनुष्य के विचार और भावनाएँ कभी भी निश्चित परिधि में नहीं रहतीं। मन चंचल होता है, मस्तिष्क में अनेक प्रकार के विचार आते हैं, कल्पना में अनेकों रूप बनते-बिगड़े रहते हैं; चित्र में इन सभी को अंकित किया जा सकता है। दर्पण और कला की क्या तुलना हो सकती है ? यदि कला दर्पण है तो वह दर्पण जो मनुष्य का केवल वर्त्तमान रूप ही नहीं लक्षित करता, वरन् वह कैसा था और उसे कैसा होना चाहिए यह सभी रूप प्रतिबिम्बित करता है, और तभी इसका कोई लाभ है। मान लीजिए हमने दर्पण में अपना मुख पहले कभी नहीं देखा, और अनजाने में कोई यदि हमारे मुख पर कालिख मल दे और इसके बाद हम दर्पण में अपना मुख देखें तो हमें क्षोभ न होगा, क्योंकि हम उसे ही अपना असली रूप समझेंगे

और उस कालिमा को मिटाने का कभी प्रयत्न न करेंगे। यदि कला ऐसा ही दर्पण है, जो समाज को उसका असली रूप नहीं दिखा सकता, केवल उसका वर्तमान कलुषित रूप ही दिखा सकता है, तो निश्चय ही कला दर्पण की भाँति निर्जीव है, बेकार है। कला का कार्य केवल वर्तमान तथा भूत का ही चित्रण करना नहीं है, वरन् उसे भविष्य भी लक्षित करना चाहिए। भूत को देखकर हम यह जान सकेंगे कि पहले हमारा रूप कैसा था, हम किस अवस्था में थे, हमारी प्रगति कहाँ तक हुई थी। वर्तमान को देखकर हम यह जानते हैं कि हमारा आज का रूप कैसा है; हमारा रूप पहले से खराब है या सुन्दर। भूत तथा भविष्य का रूप देखकर हम अपने वर्तमान रूप में परिवर्तन करने का प्रयत्न कर सकते हैं। अपने रूप को और भी सुन्दर बना सकते हैं। यदि कला दर्पण है तो ऐसा दर्पण है जिसमें हम अपने भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों का दर्शन कर सकते हैं। समाज को यदि दर्पण की आवश्यकता है तो ऐसे ही दर्पण की। केवल वर्तमान रूप प्रतिबिम्बित करनेवाले दर्पण की नहीं।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि कला भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों को ध्यान में रखकर ही समाज को प्रेरणा दे सकती है, प्रगतिशील बना सकती है, सुख प्रदान कर सकती है। इसलिए आज के कलाकार के लिए यही आवश्यक नहीं है कि वह केवल आज के समाज का जैसा रूप है वैसा ही चित्रण करे, वरन् आज के समाज के रूप की और आज से पहले के समाज के रूप की तुलना कर यह जान सके कि आज हमारा रूप सुन्दर है या पहले था। यदि हमारा रूप पहले आज से अधिक सुन्दर था और किसी कारण आज हमारे मुख पर कालिमा लग गयी है, तो हमारा सबसे पहला कर्तव्य है कि हम अपनी कालिमा को धोकर साफ कर दें और पहले जैसा सुन्दर मुख प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इसके पश्चात् ही हमें अपने भविष्य के रूप का चिन्तन या कल्पना करनी होगी। बिना ऐसा किये हमारे समाज की गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती, और यदि ऐसा करते हैं तो हम एक अनिश्चित डाँवाडोल परिस्थिति के साथ आगे बढ़ने का असफल प्रयत्न करेंगे। इसलिए यदि आज का चित्रकार प्राचीन भारतीय चित्रकला से प्रेरणा लेता है तो यह अनुचित नहीं है और इसका लाभ भी निश्चित है। इसका तात्पर्य यह है कि आज का कलाकार अपने समाज की परिस्थिति से भली-भाँति परिचित है, वह अपने विकृत समाज के रूप को देखकर चिन्तित है और इसमें प्रयत्नशील है कि कम से कम वह आज के समाज का रूप उतना सुन्दर तो कर दे जितना पहले था। इसके पश्चात् वह इसकी भी कल्पना करेगा और नये मार्ग खोजेगा जैसा हमें भविष्य में होना है, या जिस मार्ग पर चलना है।

सदियों की गुलामी और खास कर पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों से फिरंगियों के अधिकार में

रहने के कारण सचमुच हमारे समाज के मुख पर एक कालिमा लग गयी है और यह हमारा परम कर्त्तव्य है कि उसे धोकर साफ कर डालें, तब आगे बढ़ने का प्रयत्न करें। इस दिशा में स्वतंत्रता प्राप्त करना हमारा पहला कदम था। भौगोलिक दृष्टि से आज हम स्वतंत्र हैं, परन्तु सामाजिक दृष्टि से अब भी हम परतंत्र हैं। आज भी हमारे समाज का वही रूप है जो अंग्रेजी आधिपत्य के समय था। अब भी हम उनकी भाषा बोलते हैं, उन्हीं के वस्त्र पहनते हैं और अपना वेश बनाये हुए हैं। हम आज भी उनकी नकल करने को तत्पर हैं। इस दृष्टिकोण से भारत को अभी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हुई। जब तक हमारा समाज अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो जाता, अपनी बुद्धि का उपयोग नहीं कर पाता, अपने को पहचान नहीं पाता तब तक वह गुलाम ही कहलायेगा और हमारी आँख पर पड़े इस पर्दे को यदि आज का कलाकार, साहित्यकार या वैज्ञानिक हटा नहीं सकता तो वह अपने कर्तव्य से विमुख होता है।

कला की अनेकों परिभाषाएँ बनीं और बिगड़ीं, परन्तु कोई निश्चित परिभाषा आज भी दृष्टि में नहीं आती। सबसे सरल, सटीक परिभाषा जो आधुनिक युग में ठहरी है, वह कला को संयोजन से संबोधित करती है। किन्हीं दो या उनसे अधिक वस्तुओं के संयोजन को कला कहते हैं। संभव है, बहुत-से विचारक आज भी इसे स्वीकार न करें, पर यह तो उन्हें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि संयोजन का कार्य सभी कलाओं में निहित है। संयोजन पर सभी कलाएँ आधारित हैं। काव्य में शब्दों का संयोजन, संगीत में स्वरों का संयोजन, नृत्य में मुद्राओं का संयोजन, और उसी भाँति चित्रकला में रूप का संयोजन होता है। संयोजन के बिना कला हो ही नहीं सकती। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि बिना कला के संयोजन नहीं हो सकता। संयोजन पहले है, फिर उसे हम कला भले ही कह लें। इसलिए यदि कला को संयोजन कहा जाय तो अनुचित न होगा।

केवल ललित कलाओं में ही नहीं और दूसरी कलाओं में भी संयोजन के बिना कार्य नहीं हो सकता। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया में संयोजन होता है। भोजन तैयार करने में उसको तमाम सामग्रियों का संयोजन करना पड़ता है। भोजन करने में भी उसे हाथ और मुख का संयोजन करना होता है। उठना, बैठना, बोलना, चलना-फिरना, सोचना, पढ़ना-लिखना, कल्पना करना, सभी में संयोजन होना आवश्यक है। यहाँ यह जान लेना अनुचित न होगा कि संयोजन को प्रबन्ध भी कहते हैं और प्रबन्ध हर कार्य में होता है। नक्षत्र, नदी, पहाड़, मैदान, पेड़, पत्ती, जीव-जन्तु, प्रत्येक वस्तु, पूरी सृष्टि प्रबन्धित है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु अपना प्रबन्ध करती है। अपनी भूख मिटाने के लिए जंगली जानवर शिकार करते हैं, उनका एक भिन्न ढंग होता है। वे जानवर गुफाएँ खोदकर रहने का प्रबन्ध करते

हैं, पक्षी एक-एक तिनका चुनकर सुन्दर घोसले बनाते हैं, पेड़-पौधे जड़ों से रस खींचकर फूल-पत्तियों तथा फलों से अपने को अलंकृत करते हैं। इस प्रकार यह संयोजन या प्रबन्ध कितना महत्त्व रखता है, यह हम प्रकृति में देख सकते हैं। हमें स्वीकार करना ही पड़ता है कि हमारे जीवन में पग-पग पर संयोजन या प्रबन्ध की आवश्यकता है। इसके बिना हम कोई कार्य कर ही नहीं सकते। सारा संसार एक प्रबंध के ऊपर आधारित है और यह प्रबन्ध जिन सिद्धान्तों पर आधारित होगा उन्हें ही हम सृष्टि का रहस्य कह सकते हैं। ऐसे सिद्धान्त होना भी निर्विवाद है। इन सिद्धान्तों को आसानी से समझना मनुष्य की शक्ति से बाहर है, परन्तु इन सिद्धान्तों को समझ लेने पर सृष्टि का सारा रहस्य हमारे सम्मुख प्रकट हो जाता है।

इसी प्रकार जब मनुष्य संयोजन के सिद्धान्त खोजकर ही निश्चित रूप में कार्य करता है— तभी उसे सफलता प्राप्त होती है। सभी कलाओं के संयोजन के सिद्धान्त हैं, उन्हीं के अनुसार कला की रचना होती है। इन सिद्धान्तों को हम 'सत्य' कह सकते हैं। सत्य अनेक नहीं हो सकते, इसीलिए सिद्धान्त भी अनेक नहीं हैं। सभी कलाओं में एक ही सिद्धान्त है, उसका रूप ऊपर से भले ही भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ता हो। सिद्धान्त क्या है ? यह निश्चित करना सरल नहीं, किन्तु यदि हम रचना करने का अभ्यास करते जायँ तो अवश्य ही इन सिद्धान्तों को किसी न किसी रूप में खोज निकालेंगे।

चित्रकला में भी संयोजन करना पड़ता है और इसको भी हम संयोजन के सिद्धान्तों को खोजने का माध्यम बना सकते हैं। यदि हम संयोजन-सिद्धान्त को जान लें तो हमारा हर कार्य सुचारु रूप से चलेगा, हमारा प्रत्येक व्यवहार सुन्दर और सुदृढ़ होगा। उसी सिद्धान्त पर हम अपने सारे समाज का संयोजन और संघटन भली-भाँति कर सकेंगे।

संयोजन या प्रबन्ध मनुष्य के प्रत्येक कार्य में होता है। परन्तु संयोजन दो प्रकार के होते हैं—एक चेतन मन-स्थिति में, दूसरा अचेतन मन-स्थिति में। या हम इसे अर्जित या मूलप्रवृत्त्यात्मक कह सकते हैं। जानवरों, पक्षियों तथा पेड़-पौधों का संयोजन मूलप्रवृत्त्यात्मक होता है। बुद्धि से वे संयोजन नहीं करते, परन्तु मनुष्य बुद्धि से भी संयोजन कर सकता है अर्थात् वह अपने सिद्धान्त के आधार पर भी संयोजन कर सकता है। पशु-पक्षी अपने रहने के स्थान सदैव एक प्रकार से बनाते हैं, परन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि से नाना प्रकार के मकान बनाता है। इसी प्रकार वह और सभी कार्यों को बुद्धि के सहारे करता है, चेतन मन से कार्य करता है या संयोजन करता है। अचेतन मन से जो संयोजन होता है वह उसी प्रकार रूढ़िवादी है जैसा जानवरों का आदिकाल से आज तक एक प्रकार के ही रहने का स्थान बनाना। परन्तु मनुष्य बुद्धि से अपने प्रत्येक कार्य में परिवर्तन कर सकता

है. यह उसका एक गुण है । कला में भी मनुष्य की चेतन रचनाओं या संयोजन का सबसे अधिक महत्त्व है । इस प्रकार चित्रकला में हम रूप-संयोजन के सिद्धान्तों को सीखते हैं । इन सिद्धान्तों को सीखकर हम चित्रों का संयोजन तो करते ही हैं, पर इनका उपयोग उन सभी स्थानों पर हो सकता, जहाँ रूप-संयोजन करना होता है । यह घर में हमें, घर की वस्तुओं का प्रबन्ध करना सिखाता है, अपने शरीर के वस्त्रों का प्रबन्ध करना, समाज के व्यक्तियों का प्रबन्ध करना सिखाता है । इस प्रकार कला के सिद्धान्तों के द्वारा हम अपने जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु का संयोजन कर सकते हैं और अपना जीवन आनन्दमय बना सकते हैं ।

संयोजन का ही दूसरा नाम रचना या निर्माण भी है । कलाओं के द्वारा हम अपने में चेतन निर्माणकारी वृत्ति उत्पन्न करते हैं । वही मनुष्य कला के पथ पर अग्रसर हो सकता है जिसमें निर्माणकारक या सृष्टिकारक प्रवृत्ति का अंश अधिक होता है । कला में निर्माण का जो कार्य होता है वह केवल बुद्धि से ही नहीं होता । उसके साथ हमारी भावनाओं, मनोवेगों का भी योग होता है । अर्थात् कला के निर्माण में प्रेम की आवश्यकता होती है । हम अपनी रचना को प्रेम करते हैं, उसके साथ हार्दिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं । जिस वस्तु या भावना को हम चित्रित करना चाहते हैं, उसका निर्माण करने से पहले उसका हमें आदर करना पड़ता है, उस वस्तु के जीवन में प्रवेश करना पड़ता है, उसके साथ हृदय बाँधना पड़ता है, उस वस्तु की भावनाओं में डूबना-उतराना पड़ता है और तब वह वस्तु सहोदर हो जाती है । इस प्रकार कलाकार को प्रत्येक वस्तु से प्रेम करना सीखना पड़ता है । मान लीजिए चित्रकार घृणा को चित्रित करना चाहे तो पहले घृणा से उसे प्रेम करना होगा; तभी वह उसे चित्रित कर सकता है । उससे दूर रहकर या घृणा को घृणा की दृष्टि से देखकर वह उसके समीप नहीं पहुँच सकता, न उसे चित्रित ही कर सकता है । कला हमें प्रेम करना सिखाती है, ध्वंस की भावना से हमें बचाये रहती है । कलाकार-वृत्ति वाला मनुष्य सृष्टि की प्रत्येक वस्तु से प्रेम करता है । कला हमें प्रेम का पाठ सिखाती है और समाज में कला का प्रचार कर हम प्रेम का प्रचार कर सकते हैं । हिरोशिमा में एटम बम का नग्न ताण्डव न हुआ होता यदि मनुष्य का हृदय कलाकार का हृदय होता । कला आपस के कलह का एक मात्र उपचार है । यदि प्रत्येक व्यक्ति निर्माण के कार्य में रत हो तो झगड़े या आपस में कलह का प्रश्न ही नहीं उठता । उसे इस दिशा में सोचने का समय ही न होगा, इनकी ओर वह दृष्टिपात भी न कर सकेगा । कला हमें शान्ति, प्रेम तथा एकता के सुन्दर बन्धन में बाँध देगी ।

मानसिक विकास

आधुनिक युग को विद्वानों ने मनोवैज्ञानिक युग कहा है। इससे पहले के युग को वैज्ञानिक युग कहा गया था। सचमुच आधुनिक युग में मनोविज्ञान का जितना विकास और प्रचार हुआ उतना किसी विद्या का नहीं। वैसे तो आज भी विज्ञान अपनी चरम सीमा पर है। परमाणु शक्ति का आविष्कार एक महान् विप्लवी आविष्कार है, जिसने सारे संसार को दहला दिया है और इस शक्ति के आधार पर वैज्ञानिक एक नये युग की कल्पना कर रहे हैं जो मनुष्य के जीवन को कहीं अधिक विकासोन्मुख कर देगा। परन्तु इस समय उपयोग में मनोविज्ञान सब से अधिक है। पिछले महायुद्ध के कारण राष्ट्रों की शक्ति का अति ह्रास हुआ। एक दूसरे से लड़कर सभी अपनी शक्ति खो बैठे। जब मनुष्य की शक्ति का ह्रास हो जाता है तब उसके सामने यह प्रश्न होता है कि वह किस प्रकार जीवित रहे। उसमें भय अधिक समा जाता है, उसके मस्तिष्क पर आतंक छा जाता है, वह मामूली बातों में भी डरने लगता है। परन्तु ऐसे समय में वाह्य शक्ति तथा शारीरिक शक्ति के नष्ट होने पर, अपने जीवन को बनाये रखने के लिए उसे अपनी मानसिक शक्तियों का सहारा लेना पड़ता है। आज एटम बम की चर्चा होती है। एटम बम में वही शक्ति बतायी जाती है जो शिव के ताण्डव में थी। पल भर में एटम बम सारे संसार को तबाह कर सकता है। कहा जाता है, यह एटम बम अब किसी एक के नहीं, अपितु दोनों विरोधी दलों के पास है। यह भी सब को ज्ञात है कि इस शक्ति से बचने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। परन्तु इसका उपयोग अभी ये राष्ट्र नहीं कर रहे हैं क्योंकि लोग जानते हैं कि एटम बम से अधिक शक्ति मनोविज्ञान में है। केवल एटम बम का भय दिखाकर जो काम हो सकता है वह एटम बम के उपयोग से भी नहीं हो सकता। लोगों का ख्याल है कि युद्ध बन्द हो गया है, परन्तु युद्ध बन्द नहीं हुआ है, युद्ध का रूप बदल गया है। आज भी युद्ध हो रहा है और यह युद्ध मनोवैज्ञानिक युद्ध है। आज की शिक्षा, राजनीति, व्यापार सभी मनोवैज्ञानिक ढंग से हो रहे हैं और आज की कला भी मनोवैज्ञानिक कला हो गयी है। आज मनोवैज्ञानिक कला का जितना प्रचार है, किसी दूसरी प्रकार की कला का नहीं।

विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों का लक्ष्य मानसिक विकास है । प्राचीन धर्म और दर्शन का भी लक्ष्य मनुष्य का बौद्धिक विकास था । अर्थात् सारे ज्ञान, विज्ञान, विद्याएँ मनुष्य के बौद्धिक विकास की योजना में निरन्तर लगी हुई हैं । इसी प्रकार कला का भी लक्ष्य मानसिक विकास है ।

मानसिक विकास दो प्रकार का होता है । एक तो मनुष्य ज्ञान प्राप्त करना ही अपना लक्ष्य बना सकता है और दूसरा प्राप्त-ज्ञान के द्वारा कार्य करता है । इन दोनों में अंतर है । इसको भी हम दूसरे प्रकार से कह सकते हैं, कोरा ज्ञान तथा उपयोगी ज्ञान । वैसे तो प्रत्येक मनुष्य को ज्ञान की आवश्यकता है, केवल कोरे ज्ञान की नहीं बल्कि उपयोगी ज्ञान की भी, परन्तु मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार दोनों में से किसी एक की ओर अधिक झुकता है । दार्शनिक का ज्ञान कोरे ज्ञान की कोटि में आता है, परन्तु वैज्ञानिक तथा कलाकार का ज्ञान उपयोगी ज्ञान होता है । दार्शनिक केवल जिज्ञासु की भाँति ज्ञान का उपार्जन किये जाता है । उसको इसी में आनन्द आता है, अर्थात् उसका ज्ञान अन्तर्मुखी हो जाता है, परन्तु वैज्ञानिक और कलाकार का ज्ञान अन्तर्मुखी नहीं होने पाता और अगर हो जाय तो वह वैज्ञानिक-निर्माण या कला की रचना कर ही नहीं सकता । वह ज्ञान को भीतर नहीं खोजता बल्कि प्रकृति में खोजता है । वाह्य वस्तुओं के द्वारा ही उसे ज्ञान होता जाता है और यह ज्ञान उसे कार्य करने पर ही होता है । वैज्ञानिक अन्वेषण करके ज्ञान प्राप्त करता है और उस प्राप्त-ज्ञान के आधार पर पुनः अन्वेषण करता है । यही विधि चलती रहती है । कलाकार का भी यही तरीका है । दार्शनिक एक स्थान पर चुपचाप बैठकर अपने मस्तिष्क में हवाई किले बनाता जाता है और नये-नये ज्ञान की प्राप्ति करता जाता है, परन्तु कलाकार या वैज्ञानिक के ज्ञान का आधार उसके सामने रखी वस्तुएँ हैं । दार्शनिक का लक्ष्य ज्ञान एकत्र करना है और वैज्ञानिक तथा कलाकार कार्य के द्वारा ज्ञान और ज्ञान के द्वारा कार्य की प्राप्ति करते हैं ।

साधारण प्रगतिशील मनुष्य के लिए यह दूसरे प्रकार का मानसिक विकास अधिक हितकर है ।

कार्य दो प्रकार के होते हैं--एक तो स्वाभाविक कार्य और दूसरा मानसिक । स्वाभाविक कार्य में कला नहीं आती । स्वाभाविक कार्य में मनुष्य को बुद्धि की आवश्यकता नहीं पड़ती, जैसे रोना, चिल्लाना, हँसना, हाथ-पैर हिलाना इत्यादि । परन्तु कला के कार्य में बुद्धि का प्रयोग होता है । जब हम कोई वस्तु बनाना चाहते हैं तभी हमें बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है, बिना बुद्धि के रचना का कार्य हो ही नहीं सकता ।

इसलिए हम कह सकते हैं कि रचना का कार्य बौद्धिक है। कला सर्वप्रथम मानसिक है या कला एक मानसिक गुण है।

वैसे तो मनुष्य में जन्मजात प्रतिभाएँ होती हैं जिनके कारण मनुष्यों के कार्यों में ग्रन्तर पड़ जाता है, परन्तु यह ग्रन्तर साधना के प्रयोग से भी पड़ सकता है जिसका इस संसार में ग्रधिक महत्त्व है। साधना के द्वारा मनुष्य ग्रपने कार्य की क्षमता बढ़ा सकता है। साधना ग्रौर साधारण ग्रादत में बहुत ग्रन्तर है। जैसे एक मनुष्य शराब पीने की पक्की ग्रादत बना लेता है, परन्तु शराब पीने में साधना की ग्रावश्यकता नहीं है। शराब का सम्बन्ध या ग्रादत का सम्बन्ध केवल शारीरिक भी हो सकता है, परन्तु साधना का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। साधना का कार्य बिना मस्तिष्क के हो ही नहीं सकता, परन्तु ग्रादत का हो सकता है। साधना में मनुष्य को ग्रात्मशक्ति का सहारा लेना पड़ता है तब साधना हो पाती है। साधना के द्वारा केवल कार्य-शक्ति नहीं बढ़ती बल्कि मानसिक शक्ति का विकास भी होता है। किसी भी कार्य को भली-भाँति करने के लिए साधना की ग्रावश्यकता है, कला स्वयं साधना है जो मानसिक विकास का ग्राधार है। यह साधना मनुष्य का वह गुण है जिस के द्वारा वह जीवन में ग्रानन्द की प्राप्ति कर सकता है, ग्रपने जीवन को सुखी बना सकता है।

यह गुण प्रत्येक कर्मशील प्राणी के लिए ग्रावश्यक है जिसके ग्राधार पर वह ग्रपने कार्य में सफलता तथा सुन्दरता प्राप्त कर सकता है, क्योंकि कार्य करने का तरीका, कार्य करने-वाले की शक्ति का द्योतक है ग्रौर मनुष्य की रचना मनुष्य स्वयं है। मनुष्य जो कुछ भी रचना करता है, उसमें उसके व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया उतर ग्राती है जिसे देखकर उसके रच-यिता का बोध होता है। सृष्टि का रचयिता ईश्वर समझा जाता है। ईश्वर का साक्षात्कार करना इतना सरल नहीं, परन्तु ईश्वर की रचना-सृष्टि का निरीक्षण कर उस ईश्वर की कल्पना की जा सकती है। सृष्टि ईश्वर का गुण है। इसी प्रकार कला का स्वरूप भी चित्र-कार का स्वरूप है। इसलिए कलाकार ग्रपनी रचना में सफलता पाने के लिए साधना करता है ग्रौर उस शक्ति के ग्राधार पर रचना करता है। साधना मस्तिष्क का गुण है, इस प्रकार साधना से मनुष्य के मस्तिष्क का विकास होता है, उसकी मानसिक शक्तियाँ बढ़ती हैं। हम कह सकते हैं—कला के द्वारा मानसिक शक्ति का विकास होता है।

सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए विद्वानों ने कहा है—"परमात्मा सौन्दर्य है", वह सौन्दर्य का स्रोत है। जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय है ग्रौर दूसरों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार संसार में कलाकार का स्थान भी समझा जाता है। जब तक कलाकार में सौन्दर्य नहीं होगा, वह दूसरों को सौन्दर्य कैसे प्रदान कर सकता है? जब तक वह स्वयं गुणी नहीं है, उसकी

रचना में गुण कहाँ से आ सकता है ? इसलिए कलाकार अपनी साधना से गुणों को अपने में संचित करता है । स्वयं गुणी होकर अपने गुणों का अपनी कला द्वारा प्रकाशन करता है । इसलिए यह सत्य है कि कला की साधना से मनुष्य अपने में गुणों को एकत्र करता है, उसका मानसिक विकास होता है, उसका व्यक्तित्व निखरता है ।

पिछले युगों में दर्शन तथा विज्ञान का अति विकास हुआ । दर्शन-युग तथा धर्मयुग के बाद वैज्ञानिक युग का प्रादुर्भाव हुआ । इस युग के बाद यह आधुनिक युग मनोविज्ञान का युग कहा जाता है । मानसिक विकास की ये सीढ़ियाँ कही जा सकती हैं । मनुष्य के मस्तिष्क का विकास तीन दिशाओं में होता है—१. दर्शन का आधार, विचार तथा कल्पना है, २. विज्ञान तथा मनोविज्ञान का आधार, अनुभव या प्रयोग है, ३. कला इन दोनों को आधार मानकर उनके ऊपर कार्य करती है, रचना करती है जिसका आधार रचनात्मक बुद्धि है । इस प्रकार कला का कार्य करके मनुष्य सभी दिशाओं में अपने मस्तिष्क का विकास कर सकता है । आज हमें कोरे दार्शनिक ज्ञान तथा विज्ञान के अनुभव-ज्ञान की ही आवश्यकता नहीं है बल्कि उसके आगे जो रचनात्मक ज्ञान है, जिसके लिए विज्ञान और दर्शन केवल सहायक मात्र हैं, हमारे भविष्य के लिए अति आवश्यक है । इसीलिए यदि हम भविष्य की कल्पना करते हुए कहें कि अगला युग जो हमारे सम्मुख है, कला युग है तो अनुपयुक्त न होगा । इस प्रकार कला-पथ ग्रहण कर हम अपने मानसिक विकास में वृद्धि कर सकेंगे ।

कला-धर्म

धर्म के प्रभाव के बदले आधुनिक संसार में धर्म का अभाव अधिक बलवान् होता जा रहा है। कहा जा सकता है कि आधुनिक संसार प्रगति की ओर न जाकर अवनति की ओर जा रहा है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान हमें यही बताता है कि हमारी प्रगति हो रही है। प्राचीन समय में धर्म के ऊपर मनुष्य का जीवन आधारित था, आज जीवन का आधार विज्ञान है। धर्म भी मनुष्य को सुखमय जीवन व्यतीत करने का मार्ग दिखाता था और विज्ञान भी यही प्रयत्न कर रहा है। लक्ष्य एक ही है, केवल मार्ग भिन्न है। धर्मों का जब प्रादुर्भाव हुआ था, तब भी संसार में केवल एक धर्म नहीं था। विभिन्न प्रकार के धर्म रहे हैं, जैसे—वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सिक्ख धर्म, मुस्लिम धर्म, पारसी धर्म तथा ईसाई धर्म इत्यादि। अर्थात् सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिए धर्मों के रूप में मनुष्य के सम्मुख अनेक मार्ग रखे गये। इसी प्रकार विज्ञान भी एक मार्ग है और यदि इसे भी एक धर्म कह दिया जाय तो बहुत आपत्तिपूर्ण नहीं है। धर्म और विज्ञान में यदि अन्तर है, तो केवल इसका कि एक रहस्य को सत्य मानकर ईश्वर में अधिक विश्वास करता है और दूसरा रहस्य का उद्घाटन करते हुए सत्य की खोज में लगा है। वैसे तो धर्म में भी सत्य का बहुत महत्त्व-पूर्ण स्थान है, पर एक सत्य में विश्वास कर चुका है, दूसरा सत्य को खोज रहा है। दोनों ही धर्म मनुष्य के जीवन को सुखी बनाना चाहते हैं, यह तो कोई इनकार नहीं कर सकता। धर्म भी कलाओं का प्रचार चाहता था और विज्ञान भी कला के महत्त्व को मानता है और उसकी सहायता के लिए अपना ज्ञान देना चाहता है।

प्राचीन समय में धर्म मार्ग होते हुए भी लक्ष्य के रूप में था। मनुष्य का लक्ष्य धर्म को प्राप्त करना था। धर्म के लिए ही मनुष्य को प्रत्येक कार्य करना पड़ता था, धर्म का स्थान प्रमुख था, मनुष्य के सारे कार्य तथा शक्तियाँ धर्म की प्राप्ति में सेवक की भाँति थीं। इसी प्रकार कलाएँ भी, कलाओं का भी लक्ष्य धर्मप्राप्ति था। कलाएँ धर्म के लिए थीं। धर्म पहले था, कला बाद में। धर्म के प्रचार में कलाएँ रत हुईं। सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय कला का कार्य धर्म का प्रचार करना रहा, चाहे ब्राह्म ण-कला हो, बौद्ध-कला हो या जैन-कला।

आज इस बीसवीं शताब्दी में आकर चित्रकला को धर्म की सेवा से छुटकारा मिलता दृष्टिगोचर होता है। परन्तु आधुनिक यूरोपियन कला धर्म से प्रभावित न होते हुए भी विज्ञान से अधिकाधिक प्रभावित हुई और उसका असर कुछ अंश में भारत की चित्रकला पर भी पड़ा। धर्म की सेवा छोड़कर कला ने विज्ञान की सेवा करना आरम्भ किया, परन्तु बहुत थोड़े ही समय में कला नें विज्ञान को भी झटका दे दिया। आधुनिक कला ने वैज्ञानिक सत्यों को भी ताक पर रखना प्रारम्भ कर दिया है और कला स्वयं एक धर्म बन गयी है। जिस प्रकार धर्म तथा विज्ञान मनुष्य के जीवन को सुखी और आनन्दमय बनाना चाहते हैं, उसी प्रकार अब कला स्वयं यही कार्य करने को उद्यत है। कला अब दूसरे का सहारा नहीं लेना चाहती बल्कि स्वयं शक्तिशाली बनना चाहती है, कला स्वयं एक धर्म है। धर्म का युग बीता, विज्ञान का युग बीत रहा है और कला का युग सामने है। धर्म के अभाव पर और विज्ञान के प्रभाव पर हमने संसार को अवनति की ओर जाते समझा, विज्ञान के युग का लाभ उठाकर हमने उसे भी देख लिया, अब कला के युग की आशा है। क्या विज्ञान के प्रभाव को कम होते देखकर कला के युग की ओर जाते हुए भी हम कह सकेंगे कि हम अवनति की ओर जा रहे हैं ? शायद नहीं। इसलिए अब हमें धर्म और विज्ञान के झंझटों या झगड़ों में नहीं पड़ना है। बल्कि इस नये युग कला-युग की कामना करनी है, जो हमारे सम्मुख जीवन का एक नया और उज्ज्वल मार्ग रखता है और मंगल भविष्य की कामना करता है। हम अवनति की ओर नहीं, प्रगति की ओर जा रहे हैं।

कला श्रौर समाज

मनुष्य संसार में श्राते ही यह श्रनुभव करता है कि उसके सम्मुख दो वस्तुएँ हैं—एक वह स्वयं, दूसरा उसके श्रतिरिक्त यह पूरा संसार। श्रतः संसार में श्राकर वह जो कुछ भी करता है, उसका सम्बन्ध इन्हीं दोनों से रहता है। इसे हम यों समझा सकते हैं कि संसार में दो पक्ष हैं, एक मनुष्य श्रौर दूसरे उसके श्रतिरिक्त श्रौर सभी पदार्थ। इन दोनों पक्षों का सम्पर्क तथा संघर्ष सदैव चलता रहता है। इसमें सभी प्राणियों को फँसना पड़ता है। इस प्रकार यह समझना श्रावश्यक हो जाता है कि ये दोनों परस्पर एक साथ कैसे रह सकते हैं। इसके लिए कई मार्ग हो सकते हैं। एक तो यह कि प्राणी संसार के श्रनुसार चले या कार्य करे, दूसरा यह कि वह संसार के विपरीत चले, तीसरा यह कि श्रपनी शक्ति से संसार को श्रपने मार्ग पर चलने को बाध्य करे, चौथा यह कि वह स्वतः भी चलता जाय श्रौर श्रौरों को भी चलने दे, या स्वतः न चले श्रौर संसार को भी न चलने दे, या स्वयं श्रपने चले संसार को न चलने दे। इनमें से मनुष्य कोई भी मार्ग चुन सकता है श्रौर उसी के श्रनुसार कार्य कर सकता है। पर यह सत्य है कि वह श्रौर उसके श्रतिरिक्त संसार दोनों हैं। एक नहीं, दो हैं।

प्रत्येक मनुष्य उपर्युक्त मार्गों में से कोई-न-कोई मार्ग श्रवश्य श्रपनाता है, उसी के श्रनुसार चलता है या कार्य करता है श्रौर वैसा ही उसका व्यक्तित्व बनता है। ये मार्ग संसार के प्रत्येक कार्य में प्रयुक्त होते हैं। कला भी एक कार्य है श्रौर उसमें भी यही मार्ग है। इन सभी का लक्ष्य श्रात्मिक सुख या श्रानन्द है। इनमें से किसी को भी श्रच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये सभी मार्ग हैं। किसी को कोई प्रिय लगता है, किसी को कोई। इसलिए यह निर्धारित करना कि कला का क्या मार्ग होगा श्रत्यन्त कठिन है। श्रात्मिक सुख लक्ष्य है, श्रौर यह इनसे प्राप्त हो सकता है। परन्तु यदि हम यह विश्वास करते हैं कि दो नहीं एक हैं, तो हमारी समस्या बहुत ही सीधी हो जाती है श्रर्थात यदि हम यह विश्वास करते हैं कि मनुष्य श्रकेले कुछ नहीं है, उसमें श्रौर उसके श्रतिरिक्त वस्तुश्रों में कोई श्रन्तर नहीं है, या वे दोनों एक ही हैं, तो सब झगड़ा समाप्त हो जाता है, मार्ग सुगम हो जाता है। ऐसी स्थिति में एक ही मार्ग हो सकता है। वह है—एक श्रौर दो में सामंजस्य स्थापित

करना, अर्थात् हममें और उसमें अभिन्नता का बोध करना। जब हम और वह एक हैं तो हमारा पथ भी एक ही है। यही पथ कला का भी होगा अर्थात् कला भी एक और दो के भेद को मिटाने का कार्य करेगी। सुविधा के लिए एक के अर्थ में हम व्यक्ति को समझेंगे और दो के अर्थ में समाज को।

कला का कार्य व्यक्ति और समाज में एकता लाना है। व्यक्ति और समाज को परस्पर समीप लाना है। इसी कार्य के लिए संसार में भाषाओं की उत्पत्ति हुई, जिनमें से कला भी एक है।

व्यक्ति संसार में स्वतः के किये हुए अनुभवों से लाभान्वित होता है। उन अनुभवों से वह दूसरों को भी लाभान्वित कराना चाहता है, इसलिए वह कला की भाषा के माध्यम से दूसरों तक अपने अनुभवों को पहुँचाता है। उसके अनुभव से तभी लोग लाभ उठा सकते हैं, जब वह एक ऐसी भाषा द्वारा उसे व्यक्त करे जो सभी सरलता से समझते हों। यदि ऐसी कोई भाषा नहीं है तो उसका निर्माण करना आवश्यक है। आज जितने देश हैं, जितने प्रदेश हैं उतनी ही भाषाएँ हैं। कोई जर्मन भाषा बोलता है तो कोई अंग्रेजी, कोई फ्रेंच तो कोई लैटिन। ऐसी विषम परिस्थिति में उभय पक्षों में एकता या सामंजस्य कैसे स्थापित किया जा सकता है?

चित्रकला भी एक भाषा है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने को व्यक्त करता है। आज इस भाषा का कोई निश्चित रूप नहीं है। इस भाषा के नित्य नये रूप सामने आते हैं। यही कारण है कि सारा समाज इससे लाभ नहीं उठा पाता। आधुनिक चित्रकला से इने-गिने व्यक्ति ही लाभ उठा पाते हैं या आनन्द ले पाते हैं। जब तक चित्रकला की भाषा का एक निश्चित रूप न होगा और जब तक समाज में उसका प्रचार भली-भाँति न होगा, तब तक चित्रकला का लक्ष्य सिद्ध न होगा। प्रत्येक आधुनिक कलाकार के सामने यह समस्या आज भी है और पहले भी थी। इतिहास से ज्ञात होता है कि प्राचीन कला में कला की भाषा का ऐसा रूप था जिससे पूरा समाज लाभ उठा पाता था। उस समय कला का प्रचार भी अधिक था, समाज की परिस्थिति भी अच्छी थी। इस प्रकार देखने से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में कला की भाषा सुगम थी। आज यदि हम उसी को आधार मानकर अपनी भाषा को प्रौढ़ बनाने का प्रयत्न करें तो हम अधिक सफल हो सकेंगे। इसीलिए बहुतों का परम्पर में विश्वास होता है।

समाज की कार्यप्रणाली को ही परम्परा कहते हैं। आज से पहले जो कार्य-प्रणाली समाज में थी उसे ही आज हम परम्परा के नाम से समझते या संबोधित करते हैं। परम्परा

का अर्थ यह नहीं कि आज से सहस्र वर्ष पूर्व जो कार्य-प्रणाली थी केवल वही परम्परा है, कल तक के बीते हुए घटनाचक्र को भी हम परम्परा ही कह सकते हैं जिसे समझने पर हमें तब और अब के समाज की वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान हो जाता है। समाज की वास्तविक परिस्थिति को समझकर ही हम उन्नति करने को आगे बढ़ सकते हैं। कलाकार का यह कर्तव्य है कि वह इस परम्परा से अपने को भली-भाँति परिचित कराये ताकि उसे समझकर वह अपने अनुभवों को सरलतापूर्वक समाज के सम्मुख व्यक्त कर सके। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कला में परम्परा का दर्शन होना आवश्यक है। ऐसा होने से ही समाज से हमारा अति निकट सम्पर्क स्थापित हो सकता है अर्थात् हम अपने अनुभवों को अधिक सरलतापूर्वक समाज के सम्मुख रख सकते हैं।

भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह होनी चाहिए कि वह समाज के अधिक-से-अधिक प्राणियों की भाषा हो या वे उसे समझ सकें। तभी तो हम समाज और व्यक्ति में सामंजस्य स्थापित कर सकेंगे। कला का रूप, उसकी भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सर्वग्राह्य हो सके। तव प्रश्न उठता है कि ऐसी चित्रकला कौन-सी हो सकती है जिसके रूप का अर्थ और उसके द्वारा व्यक्त किये हुए भाव समाज के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँच सकें? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए चित्र के तत्त्वों का विवेचन कर लेना चाहिए। चित्र की भाषा के तत्त्व, रंग, रूप और रेखाएँ हैं। रंग, रूप, रेखा ही ऐसे माध्यम हैं जिनके द्वारा हम किसी चित्र का भाव समझते हैं। किन्तु रंग, रूप, रेखा स्वयं कुछ नहीं हैं, वे चिह्न या प्रतीक मात्र हैं, जिनके द्वारा भाव-प्रकाशन होता है। कविता में शब्द कुछ नहीं हैं, केवल भावों के प्रतीक हैं। उसी प्रकार संगीत में भावों को व्यक्त करने के प्रतीक स्वर हैं। यदि प, ति, त, अक्षर कहीं लिखा हो तो केवल इन अक्षरों का कोई अर्थ नहीं होगा, परन्तु 'प ति त' मिलकर पतित हो जाता है, इससे भाव की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार केवल स्वर का कुछ अर्थ नहीं होता। कई स्वर मिलकर भाव उपस्थित करते हैं। ठीक ऐसे ही चित्र में लाल रंग का कोई अर्थ नहीं; उसके साथ यदि एक सूर्य का गोला हो जाय तो वही सूर्य की लाली या धूप लक्षित करता है। अर्थात् प्रत्येक कला प्रतीकों के द्वारा व्यक्त होती है। इसलिए चित्रकला को समाज तक पहुँचाने के लिए ऐसे प्रतीकों की खोज करनी पड़ेगी जिनका भाव समाज भली-भाँति समझ सके।

साहित्य के क्षेत्र में साहित्यकार या कवि जानता है कि प, ति, त तीनों को मिलाकर पतित बनता है और वह उसका भाव भी समझता है। जो समाज हिन्दी भाषा पढ़ता है वह भी 'प ति त' (पतित) के भाव को समझता है। परन्तु चित्र-कला के क्षेत्र में ऐसा नहीं है। नीला, पीला और लाल मिलकर चित्र में क्या भाव पैदा करेंगे, यह न तो अधिकतर

चित्रकार को ज्ञात है न उसके दर्शक को । साहित्य में लाल रंग कहने से केवल वर्ण का बोध होता है, पर चित्रकला में लाल केवल वर्ण मात्र ही नहीं वरन् क्रोध, लोलुपता इत्यादि मनोवेगों तथा उद्वेगों का भी द्योतक है । साहित्य में रेखा केवल रेखा है, पर चित्रकला में विभिन्न प्रकार की रेखाएँ विभिन्न उद्वेगों को व्यक्त करती हैं । यही बात रूप के साथ भी है ।

चित्र की भाषा का भली-भाँति अध्ययन करके हम अपने अनुभवों को चित्र द्वारा समाज के सम्मुख रख सकते हैं । मान लीजिए, एक मनुष्य समाज द्वारा सताया गया है, तो समाज के प्रति जो उसकी कटु भावनाएँ हैं उन्हीं को वह अपने चित्र में स्थान देगा । इसी प्रकार चित्रकार भी अपना जो अनुभव या अपनी जो भावना समाज के सामने रखता है उसका उत्तरदायित्व समाज पर है और इसलिए समाज को उसका अनुभव स्वीकार करना होता है । व्यक्ति समाज की देन है, वह समाज का एक अंग है और वह जो कुछ भी करता है उसका उत्तरदायित्व समाज पर है । आधुनिक चित्रकार जो कुछ भी कर रहा है, जैसे भी चित्र बना रहा है उसका कारण समाज है, फिर समाज उसकी कला को स्वीकार क्यों नहीं करता ? पर नहीं, समाज उसे अंगीकार करने से मुँह मोड़ता है, अर्थात् समाज को स्वयं अपने से ही घृणा है । यह है आधुनिक समाज की स्थिति । इस प्रकार तो धीरे-धीरे समाज क्षीण हो जायगा । परन्तु नहीं, व्यक्ति और उसकी कला का ध्येय समाज में तथा व्यक्ति में सामंजस्य लाना है । यदि इसमें वह सफल होता है तो समाज को आगे बढ़ना ही होगा और यही होता है । व्यक्ति अपने में इतनी शक्ति संग्रह करता है कि वह समाज को अकेले खींच ले जाता है । ऐसा ही पुरुष महा-पुरुष कहलाता है । इस प्रकार कला और कलाकार का यह भी धर्म है कि वह समाज को अपनी शक्ति से प्रगति की ओर खींचे, समाज को घृणित तथा कुरूप होने से बचाये ।

किसी भी कला के साधारणतया दो दृष्टिकोण हुआ करते हैं—एक तो कला की रचना और दूसरा उसका सामाजिक महत्त्व । कला की रचना का सम्बन्ध कलाकार से है ? वह आत्म-अभिव्यक्ति के हेतु रचना करता है, अपनी सहज क्रियात्मक शक्ति के बल पर । रचना के बाद उसकी कृति समाज के सम्मुख आती है और यहाँ समाज की प्रतिक्रिया का कार्य आरम्भ होता है । जितना महत्त्व रचना का है उतना ही इस प्रतिक्रिया का भी है । इस प्रतिक्रिया के बल पर उस रचना का सामाजिक मूल्यांकन होता है, जिसका आधार सामाजिक रुचि है ।

आधुनिक कलाकार इस रुचि को न अधिक महत्त्व देता है, न इससे भयभीत होता है । वह केवल अपनी रुचि पर ही निर्भर करता है । किंचित् आधुनिक कलाकार की इस मनो-

वृत्ति को हम कल्याणकारी न समझें और इसका निरादर करें, पर बात सही है। हम इस पर विचार कर सकते हैं कि ऐसा क्यों, और इसका उत्तर भी सरलता से जान सकते हैं, परन्तु कलाकार की रुचि का महत्त्व हम कम नहीं कर सकते। साधारणतया हमें अपनी रुचि तथा कलाकार की रुचि में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, परन्तु इसी भिन्नता में जब हम एकता खोज पाते हैं तभी हमें आनन्द होता है, यद्यपि ऐसा हम कम ही कर पाते हैं।

वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति की रुचि भिन्न हो सकती है, पर कलाकार की रुचि में हम भिन्नता पाने पर उसे असाधारण समझते हैं, उसकी रुचि का निरादर भी करने को उद्यत हो जाते हैं। यही हमारे विकृत समाज की मनोवृत्ति का द्योतक है। किसी कला-कृति के सम्मुख होने पर हम प्रश्न करते हैं ऐसा क्यों ? और बस खत्म हो गया उसका आनन्द। अधिक से अधिक हम उस कलाकार की मनोवृत्ति तथा उसके विचारों को समझने की चेष्टा कर लेते हैं, पर फिर भी हमारी और उसकी रुचि में भिन्नता रह ही जाती है और कला के आनन्द से हम वंचित रह जाते हैं।

जिस प्रकार समाज कलाकार की रुचि की अवहेलना नहीं कर सकता, उसी प्रकार कलाकार समाज की रुचि की अवहेलना नहीं कर सकता। कला का कार्य अभिव्यक्ति है, और उसका भी उपयोग है, इसलिए जिनके लिए इसका उपयोग है, उनकी मनोवृत्ति और रुचि को समझना भी कलाकार के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

व्यक्ति की रुचि का इतना महत्त्व है कि इसी से उसका व्यवहार तथा आचरण बदल जाता है, या भिन्न प्रकार का हो जाता है। इस रुचि का आधार क्या है, यही एक विचारणीय प्रश्न है।

कुछ विद्वानों का मत है कि रुचि भी अन्य सहज शक्तियों की भाँति मनुष्य में जन्मजात पैदा हो जाती है। अर्थात् यह कहना कि रुचि हम बनाते हैं, निराधार है। रुचि हम बनाते नहीं बल्कि पाते हैं। अगर यह मान भी लिया जाय तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रारम्भ में जैसे ही बालक पैदा होता है उसके सम्मुख निर्मित एक अजीब वातावरण उपस्थित हो जाता है, जिसका प्रभाव आरम्भ से ही उस पर पड़ता है, और वही उसकी रुचि को ढालता है। जिस प्रकार पिघले मोम को साँचे में डालने से मोम का एक दूसरा रूप बन जाता है, उसी प्रकार जीव समाज के वातावरण में पलकर उसी के अनुसार ढलने लग जाता है। अर्थात् मनुष्य के जीवन में उसका वातावरण बहुत ही असर रखता है। जैसा वातावरण मिलता है वैसी ही प्रकृति या रुचि मनुष्य की बन जाती है। ऐसा अक्सर देखा गया है कि भेड़िया या कोई जंगली जानवर मनुष्य के एक अल्पायु शिशु को उठा ले गया, उसे अपने बच्चों के बीच छोड़ दिया और वह उसी वातावरण में पला और बड़ा हुआ। ऐसे

बालक की सारी रुचि का परिवर्तन हो जाता है, वह भी भेड़ियों की भाँति व्यवहार करता है, उसी तरह चलता-फिरता है, बोलने का प्रयत्न करता है, खाता है, पीता है। वह भेड़ियों की भाँति जानवरों का मांस तक कच्चा खाने लगता है। अर्थात् जैसा सम्पर्क मनुष्य को मिलता है वैसी ही उसकी रुचि बनती जाती है। इसी प्रकार रुचि की प्रतिक्रिया कला के बारे में भी प्रत्येक व्यक्ति की बनती है। शहर के एक रईस अपने को कला-रसिक समझते हैं, क्योंकि उनके स्वर्गीय पिताजी को कला से बहुत प्रेम था। उनके पिताजी जब जीवित थे तो सदैव 'राजपूत कला' की खोज में रहते थे, बहुत से चित्र खरीदा करते थे और इकट्ठा करते थे। क्योंकि श्रद्धेय पिताजी को यह पसन्द था, शहर के यह रईस भी राजपूत चित्रकला को बहुत पसन्द करते हैं, उनको कोई और दूसरी कला अच्छी ही नहीं लगती। उनको राजपूत कला के लिए प्रेम उत्पन्न हो गया है। समझते कुछ नहीं।

देश के एक सर्वप्रिय नेता को गुलाब का फूल बहुत पसन्द है, इसलिए हम गुलाब को भारत का सर्वश्रेष्ठ पुष्प समझते हैं। उसका रूप, रंग सभी हमें बड़ा रुचिकर लगता है। अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि वस्तुओं के प्रति हमारी प्रतिक्रिया सीधे इन्द्रियजन्य ज्ञान पर आधारित हो, बल्कि बहुधा हमारी प्रतिक्रिया उद्वेग-जनक और सांसर्गिक होती है। हम वस्तुओं का आनन्द सीधे नहीं प्राप्त करते या कर सकते, बल्कि उन वस्तुओं के साथ हम किसी दूसरी वस्तु का संसर्ग स्थापित करते हैं और क्योंकि यह दूसरी वस्तु हमें प्रिय थी, इसीलिए यह वस्तु भी हमें रुचिकर प्रतीत होने लगती है। कला-रसिक उपर्युक्त शहर के रईस को अपने पिता पर श्रद्धा है, इसलिए उनको उन सभी वस्तुओं में रुचि दिखाई पड़ती है, जो उनके पिता को पसन्द थी। अंग्रेजी में कहावत है—'प्रेमी अपनी प्रेयसी को तो प्यार करता ही है, पर उसके कुत्ते को भी उतना ही प्यार करता है।' हमें बिल्ली इसलिए पसन्द है क्योंकि हमारी प्रेयसी भी सदा गोद में बिल्ली लिये रहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुओं का आनन्द हम कम लेते हैं, बल्कि उस वस्तु के द्वारा, क्योंकि हमें किसी दूसरी वस्तु की याद आती है, इसलिए उस वस्तु को भी हम पसन्द करते हैं। अर्थात् हम वस्तुओं का सांसर्गिक मूल्यांकन ही करते हैं। इसी प्रकार कला के मूल्यांकन में भी सांसर्गिक मूल्यांकन को ही हम अधिक महत्त्व देते हैं। समाज का एक व्यक्ति, जो राम-भक्त है, यदि अकस्मात् किसी चित्र-प्रदर्शनी में पहुँच जाय, जहाँ चित्रकार ने एक भी ऐसा चित्र नहीं बनाया है जो रामचरित्र से सम्बन्धित हो, तो इन महाशय को वहाँ का एक भी चित्र पसन्द न आयेगा, क्योंकि ये तो चित्र में राम का होना आवश्यक समझते हैं। अर्थात् यह चित्रकला नहीं पसन्द करते हैं राम को पसन्द करते हैं, चित्र से प्रभावित नहीं होते, राम से प्रभावित होते हैं। इसी प्रकार व्यक्तिगत रुचि बहुतों की हुआ करती है, परन्तु ऐसी रुचि से कला का कोई सम्बन्ध नहीं। कलाकृति में स्वयं गुण होता है, इसी गुण में रुचि लेना आवश्यक है।

जिस मनुष्य में कला के प्रति रुचि तथा रसास्वादन करने की क्षमता नहीं है वह कला का आनन्द प्राप्त ही नहीं कर सकता और यह भी सत्य है कि हजार में शायद एक व्यक्ति मिले जो अपने में यह दोनों क्षमता न समझता हो। तब हमारे समाज में कला का महत्त्व क्यों नहीं है, समझ में नहीं आता। परन्तु उपर्युक्त पंक्तियों को अगर हम ध्यान में लायें तो ज्ञात होगा कि हममें रुचि तो है, परन्तु उसका रूप विकृत हो गया है। उसका रूप इतना विकृत है कि यदि हम इस रुचि को अरुचि से सम्बोधित करें तो बुरा न होगा या हम इसे कलुषित रुचि कह सकते हैं।

इसका मुख्य कारण हमारी मानसिक तथा हार्दिक जटिलता है। न हमारा मस्तिष्क ही शुद्ध है, न हृदय ही। सच कहा जाय तो आज के युग में हृदय के गुणों का कार्य ही नहीं होता। जिस प्रकार कुएँ से पानी खींचना जब काफी दिनों तक बन्द रहता है तो उस कुएँ के स्रोत सूख जाते हैं, या बन्द हो जाते हैं, उसी प्रकार हमारे हृदय के स्रोत सूख चुके हैं, उनमें अपना कार्य करने की क्षमता ही नहीं रह गयी। जब मनुष्य का व्यवहार अति मानसिक या मशीन की भाँति हो जाता है, तब हृदय की भी यही स्थिति होती है। आधुनिक समाज यूरोपीय मशीन युग से प्रभावित है, और यह स्थिति उसके फलस्वरूप है। यह स्थिति तब तक रहेगी जब तक भारतीय समाज अपनत्व को नहीं प्राप्त करता, जब तक वह अपने जीवन को सरल और स्वच्छ नहीं बनाता।

जब समाज की रुचि विकृत हो जाती है तो कलाकार के सामने यह प्रश्न उठता है कि वह इस स्थिति में क्या करे? ऐसी स्थिति में न तो उसकी कला को सम्मान मिलता है और न समाज ही उसकी कला से लाभ उठा पाता है। कला का समाज में कोई स्थान नहीं होता और कला जीवित नहीं रह सकती। जब कलाकार तथा समाज की रुचि में सामंजस्य होता है, तभी कला का जीवन में समाज के लिए कोई महत्त्व होता है। प्रश्न यह है कि ऐसे दूषित वातावरण में कला जीवित ही कैसे रहे? कला का ह्रास होने लगता है। कला के बिना समाज प्राणविहीन हो जाता है और समाज के बिना कला पनप ही नहीं सकती। फिर प्रश्न उठता है कि कौन किसका सुधार करे, कला समाज को ऊपर उठाये या समाज कला को? यह प्रश्न जटिल है। गिरा हुआ समाज, विकृत समाज अपनी कला को कसे ऊपर उठा सकता है। और कला जो समाज की रुचि पर आधारित है, समाज को कैसे ऊपर उठाये? यह एक पहेली-सी दीख पड़ती है, परन्तु इस पहेली का हल इतना सरल है कि इसका उत्तर बच्चों के एक खेल "सी-सा" (ढेंकी) से बड़ी आसानी से दिया जा सकता है। इस खेल में एक धुरी के ऊपर एक पटरा रखा होता है। दोनों ओर एक-एक बालक बठता है। एक तरफ का बालक बैठे-बैठे अपनी तरफ तख्ते को दबाता है और पटरे के दूसरी

तरफ बैठा बालक ऊपर उठ जाता है। फिर ऊपर उठा बालक अपनी तरफ जोर से दबाता है और दूसरी तरफ का बालक ऊपर उठ जाता है, इसी प्रकार एक दूसरे को ऊपर उठाता रहता है। अपने गिरकर दूसरे को उठाता है। यही तरीका कला और समाज का है। कला अपने गिरकर समाज को उठाती है, समाज अपने गिरकर कला को उठाता है। यहाँ कला के गिरने का तात्पर्य यह है कि वह समाज के धरातल पर आती है, अर्थात् समाज की क्षमता तथा योग्यता के अनुसार अपना रूप धारण करती है और तब समाज को उठाती है। इसी प्रकार समाज अपनी कला के लिए बलिदान करता है, उसे ऊपर उठाने के लिए। तात्पर्य यह है कि कला समाज की रुचि के अनुसार नीचे आकर भी उसे ऊपर उठाती है और समाज गिरते-गिरते अपनी कला को उठाता है। इस प्रकार कला की रुचि के साथ समाज का सामंजस्य होता है। कला समाज के लिए है और समाज कला के लिए है।

आदर्शवादी प्रवृत्ति
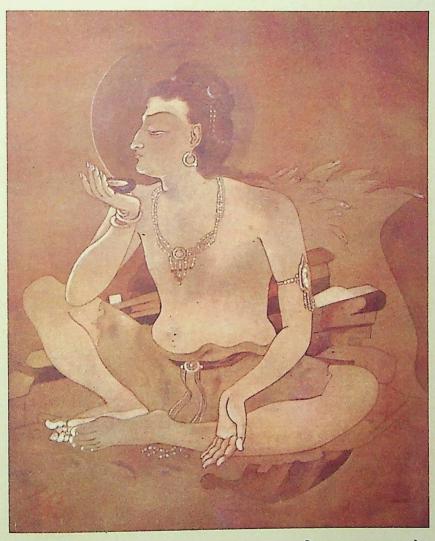
शिव का विषपान

चित्रकार—नन्दलाल बोस

जीवन और कला

संसार की सम्पूर्ण सभ्यताओं का आधार मनुष्य की सुख पाने की अभिलाषा है। सुख की खोज में ही मनुष्य इतना आगे बढ़ पाया है। इस खोज के लिए मनुष्य तन-मन-धन तथा अपनी सम्पूर्ण चेतनाओं से निरन्तर रत रहता है। मनुष्य का कोई भी ऐसा काम नहीं जिसमें उसके सुख की आकांक्षा न छिपी हो। मनुष्य अभिलाषाओं की एक गठरी है और इन सभी अभिलाषाओं की वह पूर्ति करना चाहता है। एक ओर जैसे-जैसे उसकी अभि-लाषाएँ पूर्ण होती जाती हैं वैसे-वैसे उसे अधिक सुख मिलता जाता है और दूसरी ओर उसकी गठरी की अभिलाषाएँ बढ़ती जाती हैं। यही है मनुष्य का नित्य-प्रति का कार्य, यही है उसका जीवन। मनुष्य की अभिलाषाओं का न तो कभी अन्त ही है और न उसकी सुख की लालसा ही समाप्त होती है। यह एक प्रकार की मृगतृष्णा हुई।

इसी प्रकार की मृगतृष्णा का यह संसार है, जिसमें प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी प्यास बुझाने के लिए व्याकुल है। न प्यास ही समाप्त होती है, न पानी ही। इस मृगतृष्णा से लोहा लेने के दो ही मार्ग हो सकते हैं। एक तो वह कि इस प्यास को भुलाने का प्रयत्न किया जाय और दूसरा यह कि इस प्यास को दृढ़ता के साथ शान्त करने के प्रयत्न किये जायँ। हम इसको भुलानेवालों में संसार से मुख मोड़े संन्यासियों को कह सकते हैं जो संसार की ओर से आँख बन्द कर लेते हैं। संसार के अन्य प्राणी इस प्यास को बुझानेवाले हैं जिसमें हम और आप सम्मिलित हैं। इसे हम जीवित रहने की कला कह सकते हैं।

कला, काम करने की वह शैली है जिसमें हमें सुख या आनन्द मिलता है। वैसे तो कला का नाम लेने पर हमें ललित-कलाओं, संगीत-कला, चित्र-कला, काव्य-कला, नृत्य-कला, इत्यादि का बोध होता है, परन्तु ये सभी कलाएँ जीने की कला के अन्तर्गत हैं, या हम यों कह सकते हैं कि जीने की कला इन सभी की माता है। जीने की कला में अच्छी तरह सफल होना हमारे जीवन का लक्ष्य है, और सब कलाएँ इसमें योग देती हैं, जिस प्रकार एक बड़ी नदी में छोटी-छोटी अनेकों नदियाँ आकर मिलती जाती हैं और अपना योग देती

हैं। अगर छोटी नदियाँ आ-आकर बड़ी नदी में न मिलें तो बड़ी नदी उस तेजी से आगे नहीं बढ़ सकती जैसा कि उसे बढ़ना चाहिए।

जीने की कला के अन्तर्गत संसार के सभी साधन आ जाते हैं। दर्शन, विज्ञान, कला, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्म, शिक्षा, स्वास्थ्य-शिक्षा और दूसरी सभी विद्याएँ हैं। जीने की कला का लक्ष्य है सुख या आनन्द की प्राप्ति और यही लक्ष्य और सभी कलाओं का है।

मनुष्य के इतिहास की ओर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि सबसे पहले मनुष्य को इसी की चिन्ता हुई होगी कि वह सुखपूर्वक कैसे रह सकता है। सबसे पहले उसे अपनी सुरक्षा का ध्यान हुआ होगा जिसमें पहली, भूख दूसरी शरीर की रक्षा, तीसरी कुटुम्ब-निर्माण या समाज-निर्माण की लालसा। भूख के लिए अच्छे प्रकार के सुख और आनन्द देनेवाले खाद्य पदार्थों की खोज, शरीर की रक्षा के लिए सुख देनेवाले वस्त्रों, शस्त्रों, ओषधियों की खोज, समाज-निर्माण के लिए सुख देनेवाले व्यवहारों की खोज, और सुख देनेवाली अनेकों वस्तुओं के निर्माण की धुन——यही प्रारम्भ से उसके जीवन का लक्ष्य रहा है। इसी के सुखदायक निर्वाह को हम जीवन की कला कहते हैं। सुख की प्राप्ति सुख देनेवाले ढंगों की खोज किये बिना नहीं हो सकती। अर्थात् सुख पाने के लिए कुछ नियम हो सकते हैं। इसलिए जो भी काम करना है उसे नियमित ढंग से ही करने में सुख की प्राप्ति होगी। जब हम किसी काम को नियमित ढंग से करते हैं तब हमें सुख मिलता है। जिस काम के करने में हमें सुख मिलता है उसी में हमें सौन्दर्य का दर्शन होता है। या हम यों कह सकते हैं, सुन्दरतापूर्वक कोई काम करने में हमें सुख मिलता है। इसलिए यदि हम किसी भी काम के करने में सुख की इच्छा करते हैं तो उसे सुन्दरतापूर्वक करना चाहिए। चित्रकला का ज्ञान हमें प्रत्येक कार्य को सुन्दरतापूर्वक करना सिखाता है। जीवन में यदि हम हर काम को सुन्दरतापूर्वक करें तो हमें सुख मिलेगा और यही सुख की प्राप्ति जीवन की कला का लक्ष्य है। इस तरह जीवन की कला में चित्रकला का कितना महान् योग है, यह बिलकुल स्पष्ट है। चित्र-कला का ज्ञान प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है यदि वह अपने जीवन को सुखी बनाना चाहता है।

चित्रकला के विद्यार्थी का पहिला काम होता है प्रकृति-निरीक्षण। चित्र बनाने से पहले उसे प्रकृति को देखना-सीखना पड़ता है, हर समय, चलते, उठते, बैठते, उसे अपने चारों ओर की वस्तुओं को रुचिपूर्वक देखना पड़ता है, प्रकृति की सुन्दरता का अध्ययन करना पड़ता है और प्रकृति का यह अध्ययन उसे जीवनपर्यन्त करना पड़ता है। प्रकृति अनन्त है,

उसकी सुन्दरता अनन्त है। इस अनन्त सुन्दरता का जो रसपान नहीं कर सकता वह चित्र-कार हो ही नहीं सकता। एक बार प्रकृति की सुन्दरता का रसपान कर लेने पर उसके सामने सौन्दर्य का एक कोष खुल जाता है। उसमें से चित्रकार जितना चाहे उतनी सुन्दरता अपनी रचना में भर सकता है। प्रकृति की सुन्दरता का निरन्तर रसपान करते रहने और उस सुन्दरता के आधार का पता लग जाने पर चित्रकार अपने चित्रों को भी सुन्दरता से भर सकता है।

आज का जीवन इतना व्यस्त है कि हमें प्रकृति की सुन्दरता का रसपान करने का समय ही नहीं मिलता। परन्तु प्रकृति की सुन्दरता का निरन्तर निरीक्षण करते रहने पर उसकी सुन्दरता का मंत्र चित्रकार को मिल जाता है। फिर वह उस प्यासे की भाँति जिसकी प्यास कभी बुझती ही नहीं, दिन-रात प्रकृति सुन्दरी के महासागर में गोते लगाता रहता है, उसी से प्रभावित होकर अपनी रचना भी करता जाता है और तभी उसकी रचना भी महान् हो पाती है। वह जानता है फूलों में सुन्दरता कहाँ से आयी, कल-कल करती हुई नदियों को सुन्दरता कहाँ से मिली, आकाश में, पृथ्वी पर, जल में, वृक्षों में, पक्षियों में, जीव-जन्तुओं में, कीड़े-मकोड़ों में, उमड़ते-घुमड़ते बादलों में, सूर्य की किरणों में, चाँद की चाँदनी में और मनुष्य में सुन्दरता कहाँ छिपी है। यह बृहत् ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही चित्रकार महान् हो पाता है और महान् रचना कर पाता है। चित्रकला का कार्य बिना इस ज्ञान के आगे बढ़ नहीं सकता। चित्रकार को प्रकृति का प्रेमी बनना पड़ता है और ऐसा प्रेमी जो पल भर के लिए भी अपनी प्रेयसी को भुला नहीं सकता।

जब चित्रकार और प्रकृति का सम्बन्ध प्रेमी और प्रेयसी का है तो प्रेमी अपनी प्रेयसी को क्षण भर के लिए भी आँखों से ओझल नहीं कर सकता और अकस्मात् यदि उसकी प्रेयसी को दुःख होता है, चोट पहुँचती है, तो वह उसे कदापि सहन नहीं कर सकता। उसकी प्रेयसी को चोट उसके ही भाई-बन्धु लगा सकते हैं। जापान में एटम बम गिरा, हिरोशिमा की सारी प्रकृति नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। पिछले महायुद्ध में करोड़ों मनुष्य काल-कवलित हुए, घायल हुए और कुरूप हो गये। बीमारी, महामारी, भूख और तड़प ने लोगों को जर्जर कर दिया। सुकुमार बच्चों, कोमल युवतियों और अनेकों प्राणियों की सुन्दरता छिन गयी। यह सब किसने किया? मनुष्य ने अपनी सुन्दरता को अपने आप बिगाड़ लिया। कोई कलाकार क्या कभी ऐसा कर सकता है? या सोच सकता है? वह इसे कभी सहन नहीं कर सकता और यदि सब में यही कलाकार की भावना हो तो ऐसे कुरूप दृश्य देखने का कदाचित् ही किसी को अवसर मिले।

आज हमारा समाज कुरूप और विकृत हो चुका है। ऊँच-नीच का भाव, आपस का

४

कलह और मनमुटाव, एक-दूसरे को क्षति पहुँचाने की भावना, एक को दबाकर स्वयं ऊपर बढ़ने का प्रयत्न, लालच, झुठाई, अमानुषिक व्यवहार इतने बढ़ गये हैं कि उनका प्रतिरोध कठिन हो गया है। देश के नेता, सुधारक, उच्च पदाधिकारी, इस भयानक बाढ़ को अपने भाषणों, लेखों इत्यादि से दूर करने के लिए कटिबद्ध हैं, परन्तु इस कार्य में जो सफलता मिल रही है वह भी हमारे सामने है।

समाज की यह बर्बरता लेखों और भाषणों से इस तरह दूर नहीं की जा सकती। जब तक समाज एक सुन्दर समाज नहीं बन जाता, जब तक समाज का एक-एक व्यक्ति समाज को सुन्दर बनाने में योग नहीं देता, जब तक समाज के प्रत्येक प्राणी को सौन्दर्य प्राप्ति का मार्ग नहीं मालूम हो जाता, जब तक उसको प्रकृति से प्रेम न हो, तब तक, न उसके विचार ही बदलेंगे, न वह अपनी हरकत से बाज आयेगा। यदि सचमुच हमें अपने समाज को सुन्दर, सुगठित, सुदृढ़ बनाना है, तो हमें ध्वंसात्मक वृत्तियों का दमन कर रचनात्मक वृत्तियों का स्वागत करना सीखना होगा और सिखाना होगा। यह ध्रुव सत्य है, कि अगर एक बार मनुष्य को रचना या सृष्टि का आनन्द मिल गया तो फिर वह स्वप्न में भी ध्वंसात्मक वृत्ति की भावना नहीं ला सकता। उसका सम्पूर्ण समय, उसकी पूरी शक्ति, उसका तन, मन, धन, सभी रचना के कार्य में लगेगा और फिर यह असम्भव है कि वह निर्माण के बदले ध्वंस करने की सोचे। जिस काम में उसने अपने को निछावर कर दिया है उसे नष्ट-भ्रष्ट होते वह कैसे देख सकता है ?

निर्माण की इस प्रवृत्ति को हमें अपने में फिर से जगाना होगा। निर्माण के ही आधार पर हम अपने समाज तथा जीवन को पुनः सुन्दर बना सकते हैं। आज आवश्यकता है कि भारत का बच्चा-बच्चा, युवक-युवतियाँ, वृद्ध-वृद्धाएँ, रचना के कार्य में संलग्न हो जायँ। विद्यालयों में, गृह-उद्योगों पर, रचना के कार्य पर अधिक ध्यान देना इस समय हमारा मुख्य प्रयोजन होना चाहिए। रचना का ही दूसरा नाम कला है।

प्रत्येक मनुष्य के सम्मुख, जो संसार में आया है, सबसे जटिल समस्या अपने चारों ओर के वातावरण से हाथापाई करना रही है। यह भी बिलकुल सत्य है कि इस वातावरण का सामान अकेले करना उसके लिए कठिन है। उसका जीवन इतना छोटा है कि अगर वह केवल अपने अनुभव से ही संसार को समझना चाहे और उसी के अनुसार बिना दूसरों की सहायता के जीवित रहना चाहे, तो उसका सारा समय समाप्त हो जायगा और इस अपरिमित संसार के एक छोर का भी उसे पता न लग सकेगा। ऐसी स्थिति में उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह दूसरों के अनुभव का ही सहारा ले और

उससे लाभ उठाये । वह दूसरों के अनुभवों को ग्रहण करता है और उन्हीं अनुभवों को अपने अनुभव की नींव बनाता है । इस प्रकार अनुभव की मंजिल ऊपर उठती चली जाती है । यही है समाज की उन्नति का ढंग ।

इस प्रकार समाज का यह नियम है कि प्रत्येक मनुष्य पहले समाज के अनुभवों को ग्रहण करता है, फिर उन्हीं के सहारे वह स्वयं अनुभव करता है और अन्त में समाज की उन्नति के लिए वह अपने अनुभवों को समाज को दान करता है । संसार में रहनेवाले हर व्यक्ति के लिए ये तीन बातें नितान्त आवश्यक हैं, चाहे वह योद्धा हो, पण्डित हो, व्यवसायी हो या मजदूर हो । चित्रकार भी इन्हीं में से एक है । उसको भी इन तीन नियमों का पालन करना आवश्यक है ।

चित्रकार भी पहले समाज के अनुभवों को ग्रहण करता है और अपने अनुभवों को चित्रों में रखता है । चित्र बनने तक उसने समाज के दो नियमों का पालन किया । अब तीसरा नियम समाज को अपने अनुभव प्रदान करना बाकी रह गया । वह चित्रकार तभी कर सकता है जब अपने चित्रों को समाज के सम्मुख रखे । इसलिए चित्रकार अपने चित्रों का प्रदर्शन करता है, चित्र प्रदर्शनियों में, पत्र-पत्रिकाओं में और अन्य जो भी माध्यम हो सकते हैं, उनके द्वारा वह अपने चित्रों का प्रदर्शन करता है ।

कला और सौन्दर्य

सुन्दरता किसी न किसी रूप में सबको भाती है, पर सुन्दरता किसे कहते हैं इसमें बहुत मतभेद है। इतनी साधारण बात पर इतना मतभेद ! हमारी प्राचीन सभ्यता यही बताती है कि सुन्दर वही हो सकता है जो सत्य है और शिव है। सुन्दरता किसमें है यह जानने के लिए सत्य और शिव को भी पहचानना पड़ेगा। मान लीजिए, हम सौन्दर्य को पहचानना चाहते हैं, तो पहले सत्य और शिव को जानना पड़ेगा। सौन्दर्य को तो लोग अपनी इच्छानुसार पहचान लेते हैं, पर सत्य क्या है, यह उससे बहुत टेढ़ा तथा सूक्ष्म प्रश्न है। जो हमें भाता है उसी में हम सौन्दर्य पा लेते हैं, पर सत्य की क्या पहचान ? सत्य तो कई नहीं होते, एक होता है। वह एक क्या है ? यह बड़ा भारी प्रश्न है। इसको हल करने में सारा संसार निरन्तर लगा है, पर आज भी सत्य की व्याख्या करना कठिन है। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। अब आपको शिव समझना है। शिव तभी समझा जा सकता है जब सौन्दर्य और सत्य को आप पहले ही समझ चुके हों, अन्यथा नहीं। अर्थात् एक को समझने के लिए इससे भी कठिन दो को और समझना है, फिर भी प्रश्न हल नहीं होता। एक पहेली है। सौन्दर्य को समझने के लिए सत्य तथा शिव को समझना पड़ेगा यानी दो को, और जब आप सौन्दर्य को समझने के लिए सत्य को समझना चाहें तो फिर वही प्रश्न कि सौन्दर्य तथा शिव को आप पहले समझें तब सत्य समझ में आयेगा। अर्थात् प्रश्न कभी हल नहीं हो सकता।

इसी प्रश्न पर दूसरे ढंग से भी विचार किया जा सकता है। सत्य, शिव तथा सौन्दर्य में से किसी को भी यदि हम समझते हों तो अन्य दो हम अपने-आप समझ जायेंगे। यह बात भी जरा कठिन ही है। सत्य, शिव तथा सौन्दर्य इनमें से एक भी ऐसा नहीं जो जल्दी अपनी पीठ पर हाथ रखने दे। तीनों शब्द ऐसे हैं जिनकी आज तक कोई ऐसी व्याख्या नहीं कर सका जो सर्वमान्य हो, अर्थात् तीनों शब्द रहस्यात्मक हैं और धीरे-धीरे यही धारणा बनती जा रही है। फिर भी एक बात तो साफ है कि इस रहस्य को प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि से कुछ न कुछ समझता है और उसी को सही समझता है। इसका प्रमाण यही है कि

सदियों से अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी धारणाएँ प्रस्तुत की हैं जो हजारों हैं। इसलिए हम भी अपनी बुद्धि से इसका निर्णय कर सकते हैं।

यहाँ पर हमें सौन्दर्य ही समझना है। अन्य दोनों शब्दों को हम छोड़ देते हैं।

सौन्दर्य को विद्वान् आन्तरिक चेतना मानते हैं। सौन्दर्य वस्तु में नहीं होता बल्कि दर्शक के मन में होता है। सौन्दर्य बाह्य रूप में नहीं होता। हम यह नहीं कह सकते कि बिना मस्तिष्क के कोई वस्तु सुन्दर हो सकती है। यदि हम ऐसा कहने की चेष्टा करते हैं तो हमें सौन्दर्य का एक निश्चित मापदण्ड प्रस्तुत करना होगा, जिसके द्वारा हम संसार की सभी वस्तुओं का सौन्दर्य अलग-अलग तौल सकें। और इसका तात्पर्य यह होगा कि कला को हमें विज्ञान के धरातल पर रखना होगा।

बहुत से आधुनिक कलाकारों ने यह बार-बार साबित किया है, कि जिन वस्तुओं को हम असुन्दर समझते रहे हैं, वे भी चित्र के रूप में निर्मित होने पर सुन्दरता बिखेरती हैं। यह बात साहित्यकारों ने भी मानी है। तभी तो किसान, मजदूर, लँगड़े, लूले, विकृत भुखमरों के चित्रों का बनाना भी आरम्भ हो सका। कलाकार देवीप्रसाद राय चौधरी के द्वारा निर्मित चित्र 'आँधी में कौवा' एक सफल कलाकृति समझी जा सकी। विख्यात डच कलाकार रेम्ब्रां ने एक चित्र चमड़ा उतारे हुए भैंसे का बनाया है जो अन्धेरे में लटक रहा है। यह चित्र उसके उत्तम चित्रों में से एक है और प्रकाश और छाया के संयोजन की दृष्टि से एक अद्भुत सुन्दर चित्र है। स्पैनिश विख्यात चित्रकार वेलास्काज ने एक अभूतपूर्व चित्र पानी में रहनेवाले गन्दे बौने का बनाया है। यह चित्र भी एक बेजोड़ तथा मान्यता-प्राप्त चित्र है। इससे यह साफ जाहिर है कि चित्र की सुन्दरता वस्तु में नहीं होती और न उसका उपयोगिता से सम्बन्ध है, न नैतिकता या दार्शनिकता से उसका सम्बन्ध है। इतना ही नहीं, जिस वस्तु को हम असुन्दर कहते हैं उसे चित्रकार अपना मनोबल देकर रुचि देकर, अपनी कार्य-कुशलता से उसमें भी सौन्दर्य दिखा देता है। इस प्रकार एक तरह से कलाकार ने साबित कर दिया कि कोई भी वस्तु असुन्दर नहीं है। हमारे दृष्टिकोण का अन्तर है। परन्तु फिर भी साधारण दृष्टि में तो असुन्दरता हमें दिखाई ही पड़ती है और बहुत-सी वस्तुएँ हमें सुन्दर भी लगती हैं। यही कारण है कि हम सदैव अपने कार्यों को, वातावरण को, सुन्दर बनाने में प्रयत्नशील रहते हैं अर्थात् असुन्दरता से सुन्दरता की ओर प्रयत्नशील हैं। कलाकार इस कार्य में दक्ष होता है। एक प्रकार से वह समाज का पथ-प्रदर्शक है कि असुन्दर को सुन्दर कैसे बनाया जाय। इसका अर्थ तो यह हुआ कि असुन्दर वस्तु भी होती है और उसे सुन्दर किया जा सकता है अर्थात् सुन्दरता या असुन्दरता बाह्य, रूपों में भी होती है।

सच तो यह है कि सौन्दर्य बाह्य रूपों में भी होता है और दर्शक के मन में भी । मान लीजिए, सौन्दर्य सत्य है जैसा कि प्राचीन विचारकों ने कहा है और आज भी बहुत से विद्वान् मानते हैं । सत्य रहस्यमय शब्द अवश्य है, परन्तु उसका अर्थ कुछ दूर तक हम सभी समझते हैं । यह सत्य है कि सूर्य पूर्व में उदय होता है—उसका प्रकाश हम प्राप्त होता है । यह भी सत्य है, सूर्य के डूबने के पश्चात् रात होती है और पुनः दिन । रात और दिन, दोनों में अन्तर है । रात में सूर्य नहीं दिखाई पड़ता, दिन में दिखाई देता है । अब यदि दिन में जब ऊपर सूर्य चमक रहा हो और कोई कहे रात है तो यह उस समय तथा स्थान के लिए मिथ्या अवश्य है । इसी प्रकार सौन्दर्य के बारे में भी है । कमल का फूल सुन्दर होता है, पर ऐसा भी कोई कह सकता है कि वह असुन्दर है, यद्यपि यह सत्य न होगा नील आकाश में उगा चाँद दो प्रेमी देखते नहीं अघाते, परन्तु एक विरहिणी को वही चाँद काटे खाता है । चाँद अपनी जगह है, परिस्थितियाँ भिन्न हैं । एक जगह चाँद प्रेमी-प्रेमिका के बीच सौन्दर्य का स्रोत है और दूसरी ओर विरहिणी के लिए काँटा । या यों-कहिए, मिलन में चाँद सुन्दर लगता है और वियोग में असुन्दर । दोनों दो भावनाएँ तथा मन-स्थितियाँ हैं । विभिन्न मनःस्थितियों में एक ही मनुष्य को एक ही वस्तु सुन्दर तथा असुन्दर प्रतीत हो सकती है । यहाँ पर यह बात सिद्ध होती है कि सुन्दरता मनःस्थिति पर निर्भर करती है । वस्तु में सुन्दरता है कि नहीं, यह प्रश्न नहीं उठता । वस्तु सुन्दर भी हो तो भी मन विकृत हो या मन अन्यत्र कहीं लगा हो, तो वस्तु असुन्दर दिखेगी या सुन्दरता का आभास ही न होगा । यदि मन हम किसी चीज में लगायें तो उसमें सौन्दर्य दृष्टिगोचर होने लगेगा । अर्थात् सौन्दर्य के दो हिस्से हैं । दोनों के सामंजस्य से सौन्दर्य का बोध होता है । वे हैं वस्तु तथा मन । वस्तु में भी सौन्दर्य है और मन में भी ।

यह कहना कि केवल मन में सौन्दर्य है भूल है, क्योंकि यदि मन में ही सौन्दर्य है तो वस्तु की क्या आवश्यकता ? बिना वस्तु देखे मनुष्य अपने मन में सौन्दर्य का बोध करता जा सकता है । हो सकता है, कुछ अति काल्पनिक व्यक्ति ऐसा करते भी हों, पर एक बात हमें नहीं भूलनी चाहिए कि जन्म के साथ ही हम अपनी इन्द्रियों से वस्तु का आभास करना आरम्भ कर देते हैं, जब कि कल्पना हमसे कोसों दूर रहती है और जिन वस्तुओं को हमने जन्म से देखना आरम्भ किया है उनका नक्शा हमारे अचेतन मन पर सदैव अंकित रहता है । आगे चलकर यदि हम मन में सौन्दर्य खोजने का प्रयास करें तो इन वस्तुओं को नहीं भुलाया जा सकता । इतना ही नहीं, ईश्वर की कल्पना करते समय भी उसे हम संसार में देखी वस्तुओं, आकृतियों के आधार पर ही कल्पित करते हैं, जैसे—राम, कृष्ण, गणेश,

शिव, इत्यादि मनुष्य की आकृतियों या ऐसे ही सांसारिक रूपों के सामंजस्य की आकृतियों में। हाँ, निराकार ब्रह्म में लीन होना दूसरी बात है जिसका चित्रकला से शायद कोई ताल्लुक नहीं, क्योंकि चित्र में रूप या आकृति आवश्यक है चाहे वह अति सूक्ष्म ही क्यों न हो।

वस्तु भी सत्य है। मनुष्य है और सारा संसार अनेक प्रकार की वस्तुओं से भरा हुआ है। दोनों ही सृष्टि के अंग हैं और दोनों सत्य हैं। फिर एक को सुन्दर और दूसरे को असुन्दर कैसे कहा जा सकता है ? मनुष्य के रूप में सुन्दरता है और संसार के रूप में भी। परन्तु मनुष्य यदि संसार का सौन्दर्य देखना चाहता है, तो उसे अपने मनोबल का भी प्रयोग करना होगा। आँख बन्द कर लेने से, मस्तिष्क की क्रिया को रोक देने से न तो वस्तु दिखाई पड़ेगी न सौन्दर्य, यद्यपि फिर भी वस्तु में सौन्दर्य रहेगा और चिरन्तन के लिए। हम मिट जायँ तो भले हमारे लिए संसार न हो, पर संसार तो रहा है और रहेगा। कब तक रहेगा, यह नहीं कहा जा सकता, न यह ही कि कब से है, पर है और रहेगा। वस्तु में सुन्दरता है, हाँ आँख मूँद लेने पर हमें नहीं दिखाई पड़ती। जो सत्य मनुष्य के भीतर है वही संसार में भी है। दोनों को सम्मुख करने की आवश्यकता है।

सौन्दर्य और विलक्षणता

सौन्दर्य पर विचार करते समय हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सौन्दर्य वस्तु तथा मन दोनों में निहित है। इस बात को भली-भाँति समझने के लिए आइए हम इस पर विचार करें कि वस्तु में सौन्दर्य किस रूप में होता है और मन में सौन्दर्य की भावना कहाँ से प्राप्त होती है।

पहले मन को लीजिए। यहाँ एक प्रश्न विचार करने योग्य है कि मनुष्य के अन्दर सौन्दर्य की भावना कब से और कैसे उत्पन्न होती है ? हम सभी अपने-अपने बाल्यकाल की कुछ न कुछ बात याद रखते हैं। आइए, उन्हीं पर विचार करें। सोचिए कि क्या तुरन्त उत्पन्न हुए शिशु को सौन्दर्य की अनुभूति होती है ? यदि ऐसा होता तो बालक उत्पन्न होते ही चीख-चीख कर रोने के बजाय हँसता या मुस्कराता हुआ आता। आप कह सकते हैं, उस समय वह गर्भ का कष्ट अनुभव करता है इसीलिए रोता है, यद्यपि सौन्दर्य की भावना उसमें होती है। ठीक भी हो सकता है। सौन्दर्य की प्राप्ति पर आनन्द होता है और आनन्द लेते समय व्यक्ति मौन भी रह सकता है, जैसा एक बालक पालने पर पड़ा मौन आनन्द लेता रहता है, यद्यपि वह इस प्रकार केवल आनन्द पाता है या सौन्दर्य की अनुभूति भी करता है,

कहना कठिन है। आनन्द और सौन्दर्य एक ही वस्तु नहीं। सौन्दर्य की प्राप्ति पर आनन्द का अनुभव हो सकता है। सौन्दर्य माध्यम है, लक्ष्य है आनन्द। बालक आनन्दित रहता है, इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसे सौन्दर्य भी प्राप्त है। आनन्द सन्तुष्टि से भी प्राप्त हो सकता है। सन्तुष्टि प्राप्त करने के अनेकों साधन हैं--सौन्दर्य भी एक है। बालक माँ का दूध पी कर सन्तुष्ट हो आनन्दानुभूति करता है, सौन्दर्य की प्राप्ति से नहीं।

सौन्दर्य वस्तु में होता है। तुरन्त उत्पन्न हुआ बालक संसार की किसी वस्तु को नहीं पहचानता, इसलिए उसे सौन्दर्य की अनुभूति नहीं हो सकती। जैसे-जैसे वह सांसारिक वस्तुओं से परिचित कराया जाता है, वह उन्हें पहचानना आरम्भ करता है और आरम्भ में वह केवल इतना ही समझता है कि कौन-कौन-सी वस्तु उसे सुख देती है, कौन दुःख। इस समय तक वह वस्तुओं की सुन्दरता पर कोई ध्यान नहीं देता। धीरे-धीरे उसकी रुचि अपने अनुभव के अनुसार बनती जाती है। जिन वस्तुओं से वह सुख पाता है, वे उसके लिए रुचिकर बनती जाती हैं। इस प्रकार सुख और दुःख के आधार पर उसकी रुचि बनती है। जो वस्तुएँ उसे सुख देती हैं उन्हें वह याद रखता है। याद रखने के लिए उसे वस्तुओं का आकार, रूप, रंग सभी निहारना पड़ता है और इन्हीं का एक चित्र उसके मस्तिष्क में खिंचता जाता है, जो स्थायी होता जाता है। इसके पश्चात् जब वह धीरे-धीरे अन्य वस्तुओं को भी पहचानने का प्रयत्न करता हैं और उसके सम्मुख तमाम वस्तुएँ आती जाती हैं तब उसे वस्तुओं के रूप को और बारीकी से समझना होता है, और एक दूसरे के रूप का अन्तर समझना होता है। गेंद भी गोल है, अमरूद भी गोल है, सन्तरा भी गोल है, चाँद, सूर्य, दुनिया की तमाम वस्तुएँ गोल हैं--इनके अन्तर को उसको समझना और याद रखना होता है। इस प्रकार बालक धीरे-धीरे रूप, आकार, रंग तथा उनकी प्रकृति को ध्यान से समझता जाता है और उनके अन्तर को याद रखकर वस्तुओं को पहचानता जाता है। यही ज्ञान आगे चलकर सौन्दर्य-अनुभूति में परिणत हो जाता है। सौन्दर्य क्या है, यह ज्ञान जन्मजात नहीं है बल्कि इसे धीरे-धीरे वह समाज से तथा अपने अनुभव से सीखता है।

वस्तुओं का आकार, विलक्षणता, रूप तथा रंग बालकों को जल्द आकर्षित करते हैं। बहुत-सी वस्तुओं के बारे में बालक को कुछ भी ज्ञात नहीं रहता, परन्तु फिर भी उस वस्तु के विलक्षण रूप, रंग तथा आकार के कारण वह उसे भी पहचानता है और आकर्षित होता है, जैसे चाँद। चाँद को बालक नील आकाश में ऊपर एक विलक्षण चमकते गोले के रूप में देखता है--ऐसी दूसरी वस्तु उसे नहीं दिखाई देती। इस विलक्षणता के कारण धीरे-धीरे वह इसे पहचानने लगता है, यद्यपि वह क्या है, किस उपयोग का है कुछ नहीं जानता। इस प्रकार हम देखते हैं कि विलक्षण वस्तु या विचित्रता भी हमारा एक आकर्षण बन जाती

अभिव्यंजनात्मक चित्र

प्रकाश के अँधेरे में
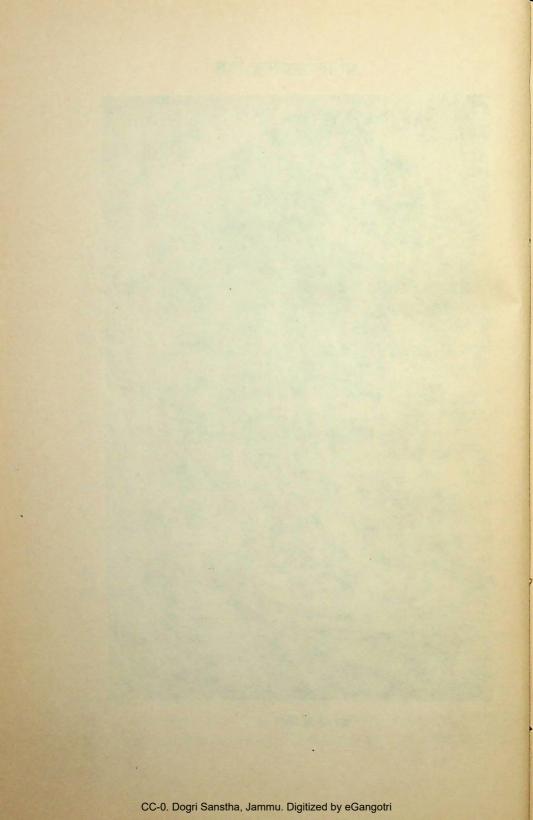
है । बहुत-सी वस्तुएँ विचित्र तथा विलक्षण होती हैं, परन्तु सब को देखकर मनुष्य आनन्दित नहीं होता । जिन वस्तुओं से हमें भय नहीं होता, घृणा नहीं होती, वही हमें आकर्षित करती हैं । बालक कुत्ते के प्रति आकर्षित होता है, पर जब उसे काटते देखता है तो उसका आकर्षण खत्म होने लगता है । इस प्रकार कष्टदायक वस्तुओं के प्रति आकर्षण धीरे-धीरे खत्म होता जाता है, यद्यपि उस वस्तु का रूप, रंग, आकार तथा विलक्षणता हमें कष्ट नहीं देती केवल उसका स्वभाव कष्ट देता है । सर्प अनेकों प्रकार के विलक्षण रूप, रंग के होते हैं । उनका रूप नहीं बल्कि स्वभाव कष्टदायक है । हम मदारी के सर्प देखते हैं, क्योंकि वहाँ हमें भय नहीं रहता और हम उनके रूप का आनन्द ले सकते हैं । इसी प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु का रूप हमें आकर्षित करता है, उसके सौन्दर्य का आनन्द हम लेते हैं ।

वस्तुओं का रूप, रंग और विलक्षणता हमें भाती है, उसी में हम सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त करते हैं और आरम्भ से ही हमारे मस्तिष्क के अचेतन पट पर वस्तुओं के चित्र अंकित होते जाते हैं । जो रूप जितना विलक्षण होता है वह मानस-पट पर उतनी ही गहराई से अंकित होता जाता है । हाँ, उसमें से कुछ रूप हमें अधिक रुचिकर लगते हैं जिनके साहचर्य से हमें भय, घृणा न होकर प्रेम की अनुभूति हुई रहती है या जिनसे हमें लाभ हुआ करता है । इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के प्रति हमारी रुचि बनती है । आरम्भ में बालक दूध पीता है, वह उसे रुचिकर होता है, उसका सफेद रंग भी उसे रुचिकर लगता है, क्योंकि उसी से वह उसे पहचानता है । काले रंग का कुत्ता उसे उतना रुचिकर नहीं लगता जितना सफेद रंग का । सफेद कपड़े का हमारे समाज में अधिक उपयोग होता है— बालक आरम्भ से ही यह देखता है और समाज की इस रुचि को उचित समझकर अपनाता है । इस प्रकार बालक अपने समाज में प्रचलित बहुत सी रुचियों को अपनाता जाता है । धीरे-धीरे अपने अनुभव तथा समाज की रुचि के अनुसार वह कुछ रूप, रंगों तथा आकारों को सुन्दर समझने लगता है और आगे चलकर इस प्रकार संसार में देखी वस्तुओं में से कुछ रूपों के प्रति उसकी पक्की धारणा बन जाती है और उन्हें देखकर वह सौन्दर्य प्राप्त करता है ।

आगे चलकर जब व्यक्ति विचारशील तथा अध्ययनशील हो जाता है तब वह अपनी धारणाओं पर पुनः दृष्टिपात करता है, यह जानने के लिए कि जो धारणाएँ उसने बनायी हैं वे विचार की कसौटी पर सही उतरती हैं या नहीं । इस समय वह विवेक के साथ नयी धारणाएँ बनाता है, और विवेकहीन रुचियों को त्यागना आरम्भ करता है । समाज से तथा अनुभव से प्राप्त रुचि को वह बिलकुल नहीं त्याग देता, बल्कि उनमें से परिमार्जित

रुचियों को ही अपनाता है । भय तथा घृणा की मात्रा अब कम होती जाती है और रूप की ओर वह अधिक खिंचता है । इस समय वह रूप पर विचार करना आरम्भ करता है और विवेक से उसका चुनाव करता है । चुनने में कुछ सिद्धान्त बनाता है । विलक्षणता यहाँ भी सबसे प्रमुख मापदंड होती है । जो रूप जितना विलक्षण होता है वही अधिक रुचिकर और सुन्दर लगता है । जो वस्तु बहुतायत में पायी जाती है, आसानी से प्राप्त हो जाती है, वह उतनी सुन्दर नहीं लगती । कमल का फूल हम रोज नहीं देखते । सरोवर के पास जाने पर नील जल के ऊपर लहराता कमल हमें सुन्दर लगता है । मोर जंगल में रहता है, और वहीं नाचता है जहाँ हम नहीं होते । यह दृश्य हमें जल्दी नहीं प्राप्त होता इसलिए इस विलक्षणता को देखने में हम रुचि लेते हैं, लालायित होते हैं और देखने पर सौन्दर्य का अनुभव प्राप्त करते हैं । मोर के पंखे जिस प्रकार अलंकृत रहते हैं, वैसे दूसरे पक्षियों के नहीं, यह विलक्षणता हमें भाती है । इस प्रकार आसानी से प्राप्त न होनेवाले रूपों में हमें सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है । अर्थात् विभिन्न प्रकार के आकार, रूप, रंग जब विलक्षण ढंग से एक स्थान पर संयोजित मिलते हैं तो सौन्दर्य का बोध होता है और सुन्दरता के परखने में 'संयोजन' एक मुख्य गुण है ।

कला और सौन्दर्य का सम्बन्ध बहुत प्राचीन है । कला में सौन्दर्य का होना आवश्यक समझा गया है । जिसमें सौन्दर्य नहीं उसे लोगों ने कला माना ही नहीं । यदि कला रूप है तो सौन्दर्य उसका प्राण है । कुछ लोग तो कला और सौन्दर्य को एक ही रूप में देखते हैं और कला को सौन्दर्य समझते हैं । कला की परिभाषा बताते हुए लिखा गया है कि किसी कार्य को सुन्दरता के साथ करना ही कला है ।

कार्य तो इस संसार में सभी करते हैं चाहे मनुष्य हो, पशु हो, पक्षी हो या कोई अन्य जीवधारी । पर क्या सभी अपना कार्य सुन्दरता के साथ करते हैं ? यह प्रश्न विचारणीय है । पशु-पक्षी भी अपना कार्य करते हैं । इनके अधिकतर कार्य भूख, प्यास, आश्रय तथा काम से सम्बन्धित रहते हैं । मनुष्य के भी यही कार्य हैं । मनुष्य तथा जानवरों में केवल यही अन्तर समझा जाता है कि मस्तिष्क जानवरों में नहीं होता । यह अन्तर बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है, जिसके कारण जानवरों के कार्य में और मनुष्य के कार्यों में बड़ी विभिन्नता हो जाती है । इसलिए जानवरों के कार्य कला हैं और उनमें सुन्दरता है या नहीं, यह विचार स्थगित करना पड़ेगा, क्योंकि हमें तो मनुष्य की कलाओं से तात्पर्य है ।

मनुष्य के सभी कार्य मस्तिष्क के सहारे होते हैं, परन्तु उसके सभी कार्यों को कलाओं में स्थान नहीं दिया जाता, जैसे स्वप्न देखना, सांस लेना इत्यादि । इतना ही नहीं, ललित कलाओं की परिधि तो और भी संकीर्ण है । इनमें तो केवल संगीत, काव्य, चित्र, मूर्ति

तथा नाटच-कला इत्यादि ही प्रमुख हैं। हमारा भी सम्बन्ध यहाँ केवल चित्रकला से है, इसलिए उसी का विचार करना आवश्यक है।

किसी चित्र को देखकर पहला वाक्य जो मनुष्य के मुँह से निकलता है वह है 'चित्र-सुन्दर है'। सुन्दरता पहली वस्तु है जिसे देखनेवाला सबसे पहले चित्र में खोजता है। चित्र में सुन्दरता पाने पर देखनेवाले को प्रसन्नता होती है, सन्तुष्टि होती है और सुख मिलता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि जिस वस्तु में सुख, सन्तुष्टि तथा प्रसन्नता मिले वह कला है, पर सुन्दर तो उसे अवश्य कहा जा सकता है, जैसे भूखे मनुष्य के सामने यदि भोजन रख दिया जाय तो उसे सुख, सन्तुष्टि और प्रसन्नता होती है, पर भोजन कला नहीं है, या सरोवर में उगे कमल को जो हमें सुख, सन्तुष्टि तथा प्रसन्नता देता है, कला नहीं कहा जा सकता—यद्यपि सुन्दरता उसमें अवश्य दिखाई पड़ती है। इसलिए कला और सुन्दरता एक वस्तु नहीं है। हाँ, मनुष्य के कार्यों में जब ये तीनों वस्तुएँ मिलती हैं और सुन्दरता भी होती है, तो उसे हम कला कह सकते हैं। इसलिए सुन्दरता कला नहीं है बल्कि मनुष्य का कार्य कला है, जिसमें सुन्दरता होना हम आवश्यक समझते हैं।

सुन्दरता हमें तभी प्रतीत होती है जब उस कार्य को देखकर हमें प्रसन्नता, सन्तुष्टि तथा सुख मिलता है। मनुष्य तभी प्रसन्न होता है जब उसे इच्छित वस्तु मिलती है। यदि एक शराबी को एक बोतल शैम्पेन मिल जाय तो उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। एक भिखारी को भरपेट भोजन मिल जाय तो वह प्रसन्न हो जाता है। एक किसान की यदि खेती लहरा जाय तो वह प्रसन्नता से भर जाता है। अर्थात् जिस मनुष्य को जिस वस्तु की इच्छा रही है उसकी प्राप्ति पर उसे प्रसन्नता होती है, सन्तुष्टि होती है और सुख मिलता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य की इच्छाएँ भिन्न हो सकती हैं और उसे इसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं में सुख मिलता है। सुन्दरता भी भिन्न-भिन्न रुचि तथा इच्छा के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न वस्तुओं या कार्यों में मिलती है। इसलिए सुन्दरता का आधार मनुष्य की रुचि तथा इच्छा है। सुन्दरता कोई ऐसी वस्तु नहीं जो किसी एक स्थान पर एक ही रूप में सबको मिले। विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न वस्तुओं में सुन्दरता मिलती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि सुन्दरता कोई गुण नहीं है, वह केवल एक भाव है जो मनुष्य तब प्रकट करता है जब उसे अपनी रुचि या इच्छा की वस्तु मिल जाती है।

ऐसी स्थिति में कलाकार या चित्रकार से यह कैसे आशा की जा सकती है कि वह अपनी रचना में ऐसी सुन्दरता भर सके जो विभिन्न व्यक्तियों को मान्य हो। विभिन्न

व्यक्ति विभिन्न वस्तुओं में सुन्दरता पाते हैं, एक ही चित्र में सभी को सुन्दरता मिले यह कैसे हो सकता है ? जैसे-जैसे मनुष्य का समाज विकसित हो रहा है, मनुष्य की इच्छाओं तथा रुचियों में निरन्तर भिन्नता बढ़ती जा रही है। ऐसी स्थिति में कला में सुन्दरता पाना सबके लिए आसान नहीं। चित्रकार या कलाकार सब की इच्छित वस्तु एक ही चित्र में कैसे जुटा सकता है ? यही कारण है कि आज हम चित्र में सुन्दरता नहीं खोज पाते। चित्रकार जानता है कि वह विभिन्न इच्छाओं की वस्तु एक जगह इकट्ठा नहीं कर सकता इसलिए वह इन इच्छाओं को अधिक महत्त्व नहीं देता, न वह चित्र में सुन्दरता को महत्त्व देता है, क्योंकि सुन्दरता कोई एक निश्चित वस्तु तो है नहीं, वह भी भिन्न-भिन्न है। यही कारण है कि आधुनिक चित्रकार सुन्दरता को महत्त्व नहीं देता, न इसके बारे में वह कभी सोचता है, न वह यह चाहता है कि लोग उसके चित्रों में सुन्दरता खोजें।

आधुनिक युग में चित्र में सुन्दरता होना आवश्यक नहीं है। सुन्दर और असुन्दर के चक्कर में आज का चित्रकार पड़ता ही नहीं। कला और सुन्दरता का सम्बन्ध अब इतना घनिष्ट नहीं रहा। कला की परिभाषा "किसी कार्य को सौन्दर्यपूर्वक करना कला है" में से सौन्दर्य हटा दिया गया है और केवल "कार्य करना ही कला है" यही परिभाषा अधिक मान्य है।

अब यह प्रश्न होता है कि चित्र देखनेवाला चित्र में क्या देखे ? अभी तक तो वह चित्र में सौन्दर्य खोजता था, अब क्या खोजे ? अभी तक तो वह चित्रों में अपनी इच्छित वस्तु खोजता था और सुन्दरता पाता था। परन्तु अब उसे चित्र में अपनी इच्छित वस्तु या सुन्दरता नहीं खोजता है, न पायेगा वह। तब तो यह कहा जा सकता है कि अब उसे उस वस्तु को खोजना या पाना है जो उस चित्रकार ने पायी है और अपने चित्र में रखी है। इसमें ही देखनेवाले को सुन्दरता खोजनी पड़ेगी जो उसकी अपनी नहीं है बल्कि चित्रकार की है। चित्रकार अपने परिश्रम तथा अनुभव से कुछ खोजकर अपने चित्र में रखता है। उसी का आनन्द दूसरों को भी लेना है। यह कोई नयी बात नहीं है। जिस प्रकार वैज्ञानिक या दार्शनिक खोजकर वस्तु को सामने रखता है और उसका आनन्द हम भी लेते हैं, उसी प्रकार आज का चित्रकार भी है। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक तथा दार्शनिक की खोज हमारे लिए हितकर है, उसी भाँति कलाकार की खोज, जिस प्रकार वैज्ञानिक तथा दार्शनिक के कार्य में हम प्रसन्नता, सन्तुष्टि तथा सुख पाते हैं, उसी प्रकार कलाकार के कार्य में। दर्शक चित्रकार के अनुभव तथा खोज में आनन्द लेंगे।

चित्रकार जब चित्र बनाता है तो वह यह कभी नहीं सोचता कि वह अपने चित्र में सौन्दर्य भर रहा है। शायद ही कोई ऐसा चित्रकार हो जो यह जानता है कि सौन्दर्य क्या

है, या उसका रूप क्या है । यह तो दूसरे व्यक्ति जो चित्रकार के चित्रों को पसन्द करते हैं अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए बोल उठते हैं, "सुन्दर", "अति सुन्दर" इत्यादि । कलाकार कभी यह नहीं सोचता कि उसने चित्र में सुन्दरता भरी है । चित्रकार तो परिश्रम करके स्नेह के साथ कुछ अंकित करता है और व्यक्ति जिस काम में परिश्रम देता है और स्नेह करता है, वह उसे भाता है । अपने हाथ की बनायी रोटी सबको बहुत मीठी लगती है । जो कार्य व्यक्ति परिश्रम तथा स्नेह से करता है उसमें अक्सर दूसरों को भी आनन्द मिलता है । इस प्रकार परिश्रम और स्नेह को हम सुन्दरता कह सकते हैं । बाग का माली जब परिश्रम तथा स्नेह से अपने बगीचे के पौधों को सींचता है और वे खिल उठते हैं, तो उसे उनमें सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है । बालक परिश्रम तथा स्नेह के साथ एक भोंडा चित्र बनाकर भी बहुत प्रसन्न होता है और उसमें उसे सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है । इस प्रकार यदि हम किसी भी वस्तु को स्नेह से देखें तो उसमें हमें सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है । जब हम किसी चित्र का आनन्द लेना चाहें तो हमें उसमें सुन्दरता नहीं खोजनी है बल्कि उसे सर्व प्रथम अपना स्नेह देना है और ऐसा करते ही उसमें हमें सुन्दरता दिखाई पड़ेगी जो आनन्ददायक होगी । जिस वस्तु को सारा संसार सुन्दर कहता है उसमें भी हमें सुन्दरता नहीं मिल सकती, यदि हमने उसे अपना स्नेह नहीं दिया है ।

स्नेह न होने के कारण कौरवों और पाण्डवों में महाभारत हुआ, भाई-भाई की हत्या करने को उद्यत हुआ । स्नेह न होने के कारण तिष्यरक्षिता ने कुणाल के नेत्र निकलवा लिये, स्नेह न होने के कारण औरंगजेब ने अपने राज्य में कलाओं को बन्द करवा दिया, भारतवर्ष के कलाकारों द्वारा निर्मित अद्भुत मूर्तियों तथा मन्दिरों को तुड़वा डाला, स्नेह की कमी के कारण कला की हत्या की । यही स्नेह कुरूपता को भी सुन्दर बना लेता है अपने बल से । लैला कुरूप थी, पर स्नेह के कारण मजनू ने उसे अति सुन्दर समझा । स्नेह में बड़ी शक्ति है । यही स्नेह यदि हम दूसरों को दें तो वे हमें बदले में सुन्दरता देते हैं । सुन्दरता पाना चाहते हैं तो हमें अपना स्नेह देना पड़ेगा ।

हम अपना स्नेह संसार की सब वस्तुओं को नहीं दे पाते, यही कारण है कि संसार की कुछ वस्तुएँ हमें सुन्दर लगती हैं और कुछ असुन्दर । परन्तु सृष्टि में कोई वस्तु असुन्दर या सुन्दर नहीं । सभी भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, सब हमारा स्नेह चाहती हैं । स्नेह पाकर वे हमें प्रसन्नता देती हैं, सन्तुष्टि देती हैं, सुख तथा सुन्दरता हमें मिलती है । किसी ने कहा है—"मनुष्य कुछ देकर ही कुछ पाता है ।" यही बात सुन्दरता पाने के लिए भी सत्य है । कभी-कभी हम चेष्टा करने पर भी किसी-किसी वस्तु को स्नेह नहीं दे पाते और यही कारण है कि उसमें हमें सुन्दरता कभी नहीं दिखाई पड़ती । परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम

हारकर अपना स्नेह देना रोक दें। यदि हम निरन्तर अपना स्नेह लुटाते चलें तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि वह वस्तु हम पर अपनी सुन्दरता न लुटाये, बुझते दीपक में स्नेह पड़ते ही वह प्रकाशमय हो उठता है। कला में सौन्दर्य तभी मिल सकता है जब हम उसे अपना स्नेह देंगे।

कलाकार का व्यक्तित्व

मनुष्य ने बर्तन बनाये, जिनका कार्य वस्तु को अपने अन्दर रखे रहना है; घर बनाये; जिनका कार्य उनके अन्दर रहनेवाली वस्तुओं को धूप, पानी, हवा इत्यादि हानिकारक वस्तुओं से बचाना है। रथ या सवारी बनी जो मनुष्य या वस्तुओं को एक जगह से दूसरी जगह ले जाती है। इसी प्रकार बड़ी-बड़ी मशीनें, मोटर, इजन, वायुयान, पानी का जहाज इत्यादि मनुष्य के लिए कार्य करने के लिए बनाये गये। अर्थात् मनुष्य ने जितनी वस्तुओं का निर्माण किया सभी उसका कार्य करती हैं। ये सभी वस्तुएँ मनुष्य ने अपने आनन्द तथा सुविधा के लिए बनायीं। इन सबका आधार मनुष्य की क्रियात्मक प्रवृत्ति है। मनुष्य हर समय कुछ न कुछ कार्य किया करता है जब तक वह जाग्रत अवस्था में रहता है। हम कह सकते हैं, मनुष्य का कार्य, कार्य करना है अर्थात् कार्य करनेवाले मानसिक जीव को हम मनुष्य कहते हैं। जो कार्य करता है वही मनुष्य है। जिस प्रकार मनुष्य की बनायी वस्तुएँ अपना-अपना कार्य करती हैं, उसी प्रकार प्रकृति की बनायी वस्तुएँ अपना-अपना कार्य करती हैं। मनुष्य भी प्रकृति की एक वस्तु है और वह भी प्रकृति, सृष्टि के लिए कार्य करता है। जिस प्रकार मनुष्य की बनायी वस्तुएँ मनुष्य का कार्य करती हैं, उसी प्रकार प्रकृति की वस्तुएँ जिनमें मनुष्य भी सम्मिलित है, प्रकृति का कार्य करती हैं। मनुष्य कार्य करके कलाकार कहलाता है, उसी प्रकार प्रकृति भी अपना कार्य कलाकार की भाँति करती है। संसार की जो भी वस्तु कार्य करती है, वह कलाकार का कार्य करती है। मधुमक्खी अपने हजारों छिद्रवाले सुन्दर छत्ते बनाती है, जो मनुष्य की कला से किसी प्रकार भी कम नहीं। फूलों से रस चुन-चुन कर शहद बनाती है, क्या वह किसी चीनी की मिल से कम महत्त्वपूर्ण कार्य करती है? इसी भाँति प्रकृति की सभी वस्तुएँ सुन्दरता के साथ अपना-अपना कार्य करती जाती हैं और ये सभी वस्तुएँ कला का कार्य करती हैं।

'कलाकार' शब्द मनुष्य का बनाया हुआ है, वह कलाकार के अर्थ में उस व्यक्ति को समझता है जो कला का कार्य करता है। इसमें केवल मनुष्य आता है; प्रकृति के अन्य कलाकार नहीं। यही नहीं, मनुष्यों में भी साधारणतया हम सभी को कलाकार नहीं

कहते । कलाकार हम उसे कहते हैं जो कोई विलक्षण रचना करता है, जैसा सभी व्यक्ति नहीं करते, जैसे संगीत का कार्य, चित्र का कार्य, नृत्य का कार्य, मूर्ति का कार्य, काव्य का कार्य, साहित्य का कार्य इत्यादि । इतने से ही हम सन्तुष्ट नहीं होते और कलाकार का अर्थ हम और संकुचित करते हैं । उसी को कलाकार समझते हैं जो सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् का ज्ञाता होता है । सबसे सूक्ष्म कलाकार हम परमात्मा या ईश्वर को समझते हैं । यह हमारी मानसिक बाजीगरी का स्वरूप है । कलाकार तो सम्पूर्ण मनुष्य जाति है, सृष्टि की प्रत्येक वस्तु है । अर्जुन को श्री कृष्ण ने महाभारत में अपना विराट रूप दिखाया, जिसमें समस्त भूमण्डल तथा त्रिलोक सम्मिलित था । इस दृष्टिकोण से कलाकार ईश्वर ही नहीं त्रिलोक है, अर्थात् त्रिलोक की प्रत्येक वस्तु कलाकार है, प्रत्येक जीव कलाकार है, प्रत्येक मनुष्य कलाकार है ।

गीता में कर्म को मनुष्य के जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है । कर्म करना मनुष्य का धर्म बताया गया है । कर्म करनेवाला ही कलाकार हो सकता है । जो भी कर्म करता है वह कलाकार है, अर्थात् कला का कार्य करना ही मनुष्यत्व है । प्रत्येक मनुष्य के लिए कलाकार बनना आवश्यक है । प्रत्येक मनुष्य के लिए कला का कार्य करना आवश्यक है । कला का कार्य करने का अधिकार केवल कुछ चुने हुए व्यक्तियों के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिए है । मनुष्य का लक्ष्य कलाकार बनना है । मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में कला-वृत्ति आवश्यक है । मनुष्य की सुकीर्ति विकास, प्रगति तथा जीवन सभी कला पर आधारित हैं । संसार की प्रत्येक जाति का उत्थान कला के कार्य पर आधारित है ।

प्राचीन भारत, चीन, रोम तथा ग्रीस का उत्थान उनकी कला पर आधारित था । कोई देश या जाति कला का निरादर नहीं कर सकती । किसी देश या जाति का जब प्रत्येक व्यक्ति कलाकार की भाँति कार्य करता है, तभी उस जाति या सभ्यता का विकास होता है, उत्थान होता है ।

प्राचीन भारत में कलाकार शब्द के स्थान पर शिल्पी शब्द प्राप्त होता है । आज भी शिल्पी शब्द प्रचलित है । साधारणतया हम शिल्पी के अर्थ में केवल मूर्तिकार तथा भवन निर्माणकार को समझते हैं । परन्तु प्राचीन भारत में शिल्पी सम्पूर्ण विद्याओं का द्योतक था ।

श्री गोविन्दकृष्ण पिल्लई अपनी पुस्तक में लिखते हैं ——

"प्राचीन समय में जब कलाकार तथा दस्तकार में भेद नहीं था, हिन्दू जाति 'शिल्पी'

शब्द का व्यवहार कलाकार, भवन-निर्माणकार तथा मूर्तिकार को सम्बोधित करने के लिए करती थी, जिसके कार्य की परिधि विज्ञान जैसे गणितशास्त्र तथा ज्योतिषशास्त्र तक पहुँचती थी।

अक्सर शिल्पी शब्द का भाषान्तर करते हुए इसको मूर्तिकार या भवन-निर्माणकार के रूप में व्यवहार किया जाता है। यह इन शिल्पियों के साथ अन्याय है। शिल्पी शब्द इतना व्यापक है जितना शिल्पशास्त्र और दोनों को अभेद्य स्थान प्राप्त है।

निश्चित ही शिल्पी को भारत में बहुत उच्च स्थान प्राप्त था। 'मानसार' के अनुसार ज्ञात होता है कि शिल्पी के लिए वेदों तथा शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना सबसे प्रारम्भिक कार्य था।

'मानसार' के अनुसार चार प्रकार के शिल्पी बताये गये हैं—स्थपति, सूत्रग्रही, वर्धकी तथा तक्षक। स्थपति शिल्पी सबसे उत्तम समझा जाता था। ऐसे शिल्पी के लिए प्रत्येक शास्त्र तथा वेद का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था, अर्थात् उसका ज्ञान सम्पूर्ण होना आवश्यक था। वह सम्पूर्ण ज्ञान का आचार्य समझा जाता था। वह अन्य शिल्पियों का आचार्य था।

सूत्रग्रही भी सभी वेदों तथा शास्त्रों का पण्डित होता था और रचना तथा अलंकरण में दक्ष होता था। वर्धकी शिल्पी भी वेदों तथा शास्त्रों का ज्ञाता था। वह प्रमाण-शास्त्र में दक्ष होता था! वह कुशल चित्रकार तथा निपुण गुणग्राही होता था।

तक्षक शिल्पी को भी वेदों तथा शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था। उसे अपने कार्य में कुशल होने के अतिरिक्त सामाजिक, विश्वासी तथा दयालु होना पड़ता था। सभी शारीरिक तथा मानसिक कार्यों में दक्ष होना आवश्यक था। वह काष्ठ-कला, वास्तु-कला, मूर्तिकला, लौह-कला तथा चित्रकला में कुशल होता था।

इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मार्कण्डेय ऋषि तथा वज्र के कला-सम्बन्धी वार्तालाप में कुशल चित्रकार या कलाकार वह माना गया है जिसने मूर्तिकला, चित्रकला, नृत्यकला, संगीतकला, सभी का अध्ययन भली-भाँति किया हो। धर्म शब्द इतना व्यापक है कि इसमें मनुष्य के सभी कार्य आ जाते हैं।

शुक्रनीतिसार में चौसठ कलाओं का वर्णन है तथा बत्तीस विज्ञानों का, और यह सभी वेदों तथा शास्त्रों में निहित है। इन सभी का ज्ञान प्राप्त करना शिल्पी के लिए आवश्यक था। यह कहना कठिन है कि इस प्रकार के उस समय कितने शिल्पी थे, या यह केवल एक

आदर्श ही था । परन्तु यदि यह केवल आदर्श भी रहा हो तो बहुत ही सुदृढ़, सुन्दर तथा अनुमोद्य है । ऐसे शिल्पी आधुनिक समय में तो शायद ही कहीं हों, परन्तु आज हमारी कल्पना में भी ऐसा शिल्पी नहीं आता, जिस प्रकार आज हमारी कल्पना में यह नहीं आता कि प्राचीन विशाल तथा भव्य मन्दिर जो आज भी भारत की शिल्पकला का गौरव बचाये हुए हैं, किस प्रकार निर्मित हुए होंगे ।

हम प्राचीन अजन्ता तथा बाघ इत्यादि की चित्रकला देखकर अपने प्राचीन कलाकारों पर आश्चर्य प्रकट करते हैं । मीनाक्षी, मदुरा, खजुराहो, भुवनेश्वर के भव्य मन्दिर, आगरे का ताजमहल देखकर हमारे आधुनिक कलाकार तथा इंजीनियर दाँतों तले अँगुली दबाते हैं । इनकी कला उनके सामने एक पहेली-सी दीखती है, इनका अनुमान लगाना कठिन हो जाता है । हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि वे कलाकार या शिल्पी महान् थे और यह भी अनुमान करना पड़ता है कि इन शिल्पियों का ज्ञान कितना व्यापक था । जो कुछ भी प्राचीन उदाहरण प्राप्त हैं, वे हमारी आँखें खोलने के लिए पर्याप्त हैं ।

यहाँ हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि आज हम भी वेदों, शास्त्रों तथा तमाम विद्याओं के पण्डित होकर कला का कार्य करें, परन्तु यह आवश्यक है कि हम आँखें मूँदकर बिना पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किये कला का कार्य कर ही नहीं सकते । जिस भाँति संसार के अन्य व्यक्तियों के लिए ज्ञान आवश्यक है, उसी भाँति कलाकार के लिए भी । कलाकार संसार के व्यक्तियों से न्यून नहीं है, उसकी भी वही आवश्यकताएँ हैं जो औरों की । जिस प्रकार शिक्षा औरों के लिए आवश्यक है, वैसे ही कलाकार के लिए भी । कलाकार को भी पूर्ण शिक्षित होना चाहिए । कलाकार को भी बहुमुखी ज्ञान की आवश्यकता है । उसका व्यक्तित्व सामजस्यपूर्ण होना चाहिए । उसमें भी मस्तिष्क, हृदय तथा कार्य-कुशलता के सभी गुण होने चाहिए । उसे केवल चित्र बनानेवाला, गानेवाला, या नाचने वाला ही नहीं होना चाहिए । जो ज्ञानी है, शिक्षित है, सामंजस्यपूर्ण व्यक्तित्ववाला है, जो रचना का कार्य करता है, वही कलाकार है ।

आधुनिक समय में भारतीय कलाकार अधिकतर वे ही हैं जो किसी कारणवश शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके, इसका पूर्ण अवसर उन्हें प्राप्त नहीं हो सका, उनका शिक्षा की ओर मन नहीं लगता था । जो मस्तिष्क के प्रयोग से डरते थे और कोई भी मानसिक तथा शारीरिक कार्य करने में असमर्थ थे, वे ही हारकर कलाओं के पथ पर अग्रसर होते थे, यह समझ कर कि वे हाथ का काम कुछ कर सकते हैं, अर्थात् 'टैक्निकल' ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, वे किसी प्रकार जीवन-निर्वाह करने के लिए कोई न कोई इस प्रकार की कला सीखते

हैं । परिणाम यह है कि आज का कलाकार केवल वह है जो रंगों से चित्र बना सकता है, गले से गा सकता है या मिट्टी के पुतले बना सकता है ।

आधुनिक भारत में अभी ऐसे बहुत से कलाकार हैं । आधुनिक अग्रोन्मुख भारत के उत्थान में इनका क्या योग हो सकता है, यह विचारणीय है । आज हमें चित्रकार या गानेवाले तथा नाचनेवाले युवक नहीं चाहिए, बल्कि ऐसे कलाकार चाहिए जिन्होंने सुन्दर जीवन की कल्पना की है और जो भारतीय समाज को सुन्दरता प्रदान कर सकते हैं, जो अपनी कला के आधार पर एक सुदर, सुदृढ़, प्रगतिशील भारत की कल्पना कर सकते हैं जो मस्तिष्क, हृदय तथा शरीर के गुणों से सम्पन्न हैं ।

चित्रकला

चित्रकला क्या है, इसे समझने के पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि कला क्या है ? जितने मुख उतनी ही परिभाषाएँ कला की हैं, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें सर्वग्राह्य कौन-सी है । कला क्या है, इसे समझने के लिए हमें कला और प्रकृति का वैषम्य समझने की आवश्यकता है । कला और प्रकृति ये दोनों पर्यायवाची शब्द नहीं हैं । जो कला है वह प्रकृति नहीं और जो प्रकृति है वह कला नहीं, केवल यही भली-भाँति समझ लेना ही कला का अर्थ समझ लेना है ।

ईश्वर प्रकृति को रचता है और मनुष्य कला को उरेहता है, अतः मनुष्य जो कुछ भी रचता है वह कला की वस्तु कहलाती है, जैसे—मूर्ति, संगीत, काव्य, चित्र, नृत्य, भवन, मोटर या विस्फोटक बम आदि । परन्तु विस्फोटक बम या मोटर बनानेवाले को हम कलाकार नहीं कह सकते । उन्हें हम इंजीनियर या वैज्ञानिक इत्यादि कहते हैं । निस्सन्देह सब एक से एक बड़े कलाकार हैं, क्योंकि यह सभी रचना का कार्य है । मनुष्य की रचना है इसलिए यह कला है । इस तरह तो प्रत्येक मनुष्य, अध्यापक, वकील, बढ़ई, लोहार, डाक्टर, किसान, माली या संसार का कोई भी काम करनेवाला कुछ न कुछ रचना करता है और इसीलिए उसकी रचना कला है और वह भी कलाकार है । इस तरह मनुष्य की किसी भी रचना को हम कला कह सकते हैं ।

मनुष्य की सभी रचनाएँ प्रायः तीन मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों में हुआ करती हैं, चेतन, अर्धचेतन तथा अचेतन । मनुष्य की चेतन रचनाएँ उत्तम कोटि की रचनाएँ समझी जाती हैं । अर्धचेतन या अचेतन की रचनाएँ भी कला हैं, पर उनके लिए मनुष्य पूर्ण उत्तरदायी नहीं होता, इसलिए कला की दृष्टि में उनका अधिक ऊँचा स्थान नहीं है । मान लीजिए मरुस्थल में एक पथिक पदचिह्न बनाता चला जा रहा है, यात्रान्त दूर की किसी ऊँचाई से कोई इन पदचिह्नों को देखता है जो कि देखने में बहुत सुन्दर लगते हैं । पर इन चिह्नों को यदि पथिक ने अनजाने में बनाया है तो उसके लिए वह पूर्ण उत्तरदायी नहीं । इसलिए यह उस मनुष्य की सर्वोत्तम कला नहीं कही जा सकती । पर यदि एक मनुष्य इसी भाँति

बालू पर जान-बूझकर कुछ रचना अपने पद-चिह्नों से करता है तो यह कला कहलायेगी और यह कला अच्छी भी हो सकती है । इसलिए मनुष्य ने चेतन स्थितियों की रचना को ही प्रधानता दी है ।

चेतन रचनाएँ भी दो प्रकार की हैं––एक रचना वह है जो भौतिक सुख के लिए होती है और दूसरी वह जो आत्मिक सुख के लिए होती है। जैसे खेती करना भौतिक सुख के लिए है और माली का सुन्दर उपवन लगाना आत्मिक आनन्द के लिए है । भिक्षा माँगनेवाली नर्तकी का नृत्य भौतिक सुख के लिए होता है, पर आत्मा के आनन्द के लिए भी नर्तकी नृत्य करती है । भौतिक कामों में आनेवाली रचना में अधिक अभ्यास तथा कल्पना नहीं रहती, पर आत्मिक आनन्द प्राप्त करने के लिए अभ्यास तथा कल्पना की और भी आवश्यकता पड़ती है । इसीलिए कुछ कलाओं को निम्न तथा कुछ को उच्च स्थान मिला है । जैसे––नृत्य, संगीत, काव्य, चित्रकला आदि उत्कृष्ट कलाएँ मानी जाती हैं ।

चित्रकला एक आत्मरञ्जन की वस्तु मानी जाती है । इसमें भी मनुष्य की चेतनकला का सबसे बड़ा स्थान है। ऐसे तो किसी भित्ति पर कुछ भी खींच दिया जाय, कला है और कोई चित्रकार कुछ भी खींच ले, कलाकार कहला सकता है । पर सबसे महान् कला तथा सबसे महान् कलाकार की परख उसकी कल्पना-शक्ति में है । चित्रकला रचना करने का एक माध्यम है । कला की शाला में किसी भी विद्यार्थी को चित्र-निर्माण की शिक्षा दी जा सकती है, पर किसी को कल्पना करना नहीं सिखाया जा सकता । यह एक देन होती है जो किसी में अधिक तथा किसी में कम होती है । ईश्वर एक महान् कल्पना का स्रोत माना गया है, इसीलिए उसकी रचना प्रकृति भी महान् है ।

चित्रकला-साधना प्रारम्भ में प्राकृतिक वस्तुओं के अनुकरण से की जाती है । उससे भी उत्कृष्ट रचना प्रकृति को अपनी कल्पना के अनुसार चित्रित करके की जा सकती है, पर सर्वोत्कृष्ट रचना तो वह है जिसमें प्रकृति के परे की कल्पना को चित्रित किया जाता है । ईश्वर ने प्रकृति की जो कल्पना की है वह उसकी अपनी कल्पना है, किसी का अनुकरण नहीं । मनुष्य भी ईश्वर मानने का प्रयास करता है और इसीलिए चित्रकार भी अपनी कल्पना को ही प्रधानता दे देता है और उसी को चित्रित करना चाहता है । अतः वे कलाकार सर्वोत्तम होंगे जिनकी कल्पना अपनी होगी और प्रकृति से परे होगी । चित्रकार जब अपने रंग और तूलिका से अपनी कल्पना को किसी भित्ति, कागज अथवा कण्टान पर उतारता है तो वह चित्र कहलाता है । चित्र बनाने के अनेकों माध्यम हैं और हो सकते हैं, जैसे––कोयला, खड़िया, मिट्टी, पेंसिल, जल-रंग, तेल-रंग इत्यादि ।

चित्रकला मनुष्य की उस रचना को करते हैं जिसमें मनुष्य अपनी कल्पना को अथवा किसी प्राकृतिक वस्तु या किसी भी वस्तु को रंग के माध्यम से किसी भित्ति पर उरेहता है या अंकित करता है। चित्रकला की जीवन में उपयोगिता क्या है और उसके अभ्यास के लिए हमें किस ओर विशेष प्रयत्नशील होना चाहिए, इसका ज्ञान बहुत आवश्यक है अर्थात् चित्रकला के लक्ष्य अथवा ध्येय से भी हमें पूर्ण परिचित होना चाहिए जिससे हम उसी के अनुसार कार्य कर सकें।

आरम्भ में चित्रकला प्रतिलिपि के रूप में किसी वस्तु अथवा दृश्य के अनुकरण मात्र के आधार पर की जाती थी, जैसे प्रागैतिहासिक कला के एक जंगली भैंसे का चित्र। उन वस्तुओं के भी चित्र बना लिये जाते थे जहाँ किसी आकृति या दृश्य का कोई मुख्य प्रयोजन होता था और लोगों को दिखाने के लिए उसे कालान्तर तक सुरक्षित रखने की आवश्यकता प्रतीत होती थी। परन्तु आज चित्रकला केवल इन्हीं दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु साहित्य या कविता की तरह अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए भी की जाती है।

चित्रकला की परिभाषा

मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते सदैव इस प्रयत्न में रहा है कि वह अपनी अनुभूतियों, भावनाओं तथा इच्छाओं को दूसरे से व्यक्त कर सके और दूसरों की अनुभूतियों से लाभ उठा सके। इसके लिए उसे यह आवश्यकता पड़ी कि वह अपने को व्यक्त करने के साधनों तथा माध्यमों की खोज तथा निर्माण करे। इसी के फलस्वरूप भाषा की उत्पत्ति हुई और काव्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला इत्यादि कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ। ये सभी हमारी भावनाओं को व्यक्त करने के माध्यम हैं। कोई अपनी भावनाओं को भाषा द्वारा व्यक्त करता है, कोई चित्रकला द्वारा तथा कोई नृत्य द्वारा। लक्ष्य तथा आदर्श सब का एक ही है, केवल माध्यम भिन्न-भिन्न हैं। इन्हीं माध्यमों को हम उन कलाओं की भाषा कह सकते हैं। काव्य और गद्य की भाषा शब्दों, अक्षरों तथा स्वरों की है। संगीत की भाषा स्वर है, नृत्यकला की भाषा मुद्रा है और मूर्तिकला की भाषा रूप तथा आकार है। इसी प्रकार चित्रकला की भाषा रूप, रंग, आकार और रेखा है। जिस प्रकार काव्य का आनन्द लेने के लिए शब्दों का अर्थ जानना आवश्यक है, उसी प्रकार चित्रकला का आनन्द लेने के लिए उसमें आये हुए आकारों, रूपों, रेखाओं तथा रंगों का अर्थ जानना नितान्त आवश्यक है। शब्द का रूप सूक्ष्म है, वह केवल किसी वस्तु या भावना का प्रतीकमात्र है। उसी प्रकार विभिन्न प्रकार की रेखाएँ, आकार, रंग तथा रूप विभिन्न प्रकार की वस्तुओं तथा भावनाओं के द्योतक हैं। नारंगी शब्द से एक मीठे

फल की भावना तथा रूप कल्पना में आता है, परन्तु नारंगी शब्द नारंगी नहीं है, नारंगी तो एक फल है। उसको नारंगी कहकर केवल सम्बोधित किया जाता है। हम किसी को बिना कुछ दिये कहें कि यह लो नारंगी, तो यह कितना निरर्थक होगा ? उसी प्रकार चित्र में नारंगी का केवल एक प्रतीक बनाया जा सकता है, जो स्वत: नारंगी नहीं हो सकता। चित्र में बनी नारंगी में वे सभी गुण नहीं हो सकते, जो नारंगी के फल में होते हैं। चित्र में नारंगी फल की भावना केवल दर्शायी जाती है और उसे देखने से हमारे भीतर नारंगी फल के और गुणों का भी काल्पनिक रूप से बोध हो जाता है। इस प्रकार यह बहुत आवश्यक है कि हम चित्रकला के चिह्नों, प्रतीकों तथा भाषा को अच्छी तरह समझ लें ताकि दूसरों के व्यक्त किये भावों को समझ सकें और उनका आनन्द ले सकें।

चित्रकला की भाषा के मुख्य अंग रेखा, आकार, रूप तथा रंग हैं। वैसे यदि हम चित्र-कला की भाषा को रूप की भाषा कहें तो अनुचित न होगा; क्योंकि रेखा, रंग तथा आकार सभी रूप के अन्तर्गत हैं। और फिर रूप के और भी टुकड़े किये जा सकते हैं, जैसे प्रकाश, अन्धेरा, धुँधलापन, रंगों की गहराई, छाया इत्यादि। परन्तु चित्रकला को भाषा की सुविधा के लिए हम तीन भागों में विभाजित करते हैं और वे हैं––रेखा, रूप तथा रंग।

रेखा

रेखाओं का भारतीय चित्रकला में एक मुख्य स्थान है। प्राचीन चित्रकला में रेखाओं का अध्ययन बहुत ही गहरा मिलता है। रेखाओं से चित्रकला में विभिन्न विधियों से कार्य लिया जाता था और उनका स्थान चित्रकला में रंग और रूप से पहले आता था, क्योंकि रेखाओं से ही रूप का निर्माण होता है। इतिहास से पूर्व के जो भी चित्र मिलते हैं उनमें भी भी रेखाओं की प्रधानता रही है। ब्राह्मण तथा बौद्धकालीन चित्रों में भी रेखा प्रधान थीं। अजन्ता की सारी चित्रकला रेखाओं के विज्ञान पर ही निर्मित है। रेखाओं के उतार-चढ़ाव में एक आश्चर्यजनक जादू-सा दिखलाई पड़ता है, उनकी रेखाओं में जीवन झलकता है। केवल प्राचीन भारत में ही नहीं, बल्कि उस समय की और दूसरे देशों की कला में भी रेखाओं का महत्त्व बहुत था। चीन, जापान, जावा, लंका, फारस इत्यादि अनेक देशों में वहाँ की चित्रकला का प्राण उनकी रेखाएँ रही है। रेखा-शक्ति पर जितनी खोज इन देशों में हुई है उतनी कदाचित् अन्य देशों में नहीं हुई। रेखाओं का जादू तो हमें प्राचीन चित्रों में देखने से मिल जाता है, पर कला का जो विद्यार्थी रेखाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहता है उसे ऐसे प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं, जिनसे वह उनका शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर सके। आधुनिक भारतीय चित्रकारों को यह ज्ञान ढूँढ़ना चाहिए और उनका अपनी चित्रकला में प्रयोग करना चाहिए।

रेखाओं से चित्र में दिशा-निर्देशन किया जाता है। कभी धीरे-धीरे, कभी वेग से चलकर, ऊपर से नीचे की ओर भारी होकर या अनायास इधर-उधर दौड़कर रेखाएँ विभिन्न प्रकार के मनोभावों को इंगित कर सकती हैं, विभिन्न प्रकार के विचारों, भावों, मनोभावों तथा मनोवेगों को उत्पन्न करती हैं। हलकी रेखा अस्पष्ट होकर दूरी का बोध कराती है। गहरी स्पष्ट रेखा निकटता की द्योतिका है। गहरी रेखा से शक्ति तथा दृढ़ता का आभास होता है। अधिक गहरी रेखाएँ आत्मविश्वास तथा दुराग्रह की द्योतिका भी हैं। रेखाओं में मोटापन, क्षीणता एवं उतार-चढ़ाव लाकर कोमलता, सुकुमारता तथा नीरसता का ज्ञान कराया जा सकता है। जब रेखाओं में प्रगति होती है तब ये मनोभावों को ऊपर ले जाती हैं और वीरता या शूरता का बोध कराती हैं। जब रेखाएँ क्षीण होकर चलती हैं, तो सन्देह, अनिश्चितता तथा दौर्बल्य का भास होता है। रेखाएँ मन के विभिन्न भावों को बड़ी सरलता से व्यक्त कर सकती हैं। रेखा से ही रूप और आकार की भी रचना होती है। जिस प्रकार साहित्य में या भाषा में क्रिया के बिना भाव-प्रदर्शन नहीं हो सकता, उसी भाँति चित्रकला में रेखाओं के बिना किसी क्रिया का बोध नहीं कराया जा सकता।

सीधी खड़ी रेखाएँ ऊपर की ओर उठकर मन को ऊपर ब्रह्माण्ड की ओर ले जाती हैं। उनके सहारे मन ऊपर चढ़ता जाता है और एक काल्पनिक जगत् की ओर अग्रसर होता है। ये मन को जटिलता से उठाकर एकाग्रता की ओर खींचती है। इसीलिए मन्दिर, मसजिद, गिरजे इत्यादि के भवन अधिकतर अत्यन्त ऊँचे बनाये जाते हैं। उनके भवनों की ऊँचाई देखकर मन भी ऊँचे उठता है। मन में स्पष्टता, दृढ़ता और पवित्रता का बोध होने लगता है। इस तरह खड़ी रेखाएँ कल्पना तथा एकाग्रता का प्रतीक हो जाती हैं और इनका उपयोग करके चित्र में ये भाव सरलता से लाये जा सकते हैं।

इसके विपरीत पड़ी रेखाएँ मन को ऊपर न उठाकर एक सीमा में बाँध देती हैं, जिससे मन एकाग्र न होकर इधर-उधर पड़ी उन रेखाओं के साथ दौड़ने लगता है। इस प्रकार की रेखाएँ सासारिकता की द्योतिका हैं। इन रेखाओं में प्रगति की कमी का आभास होता है। ये मनुष्य के विचारों को भी एक सीमा में बाँध देती हैं और शक्ति न देकर दौर्बल्य का बोध कराती हैं। लेटे हुए और खड़े हुए दोनों मनुष्यों को देखने से विपरीत भाव उत्पन्न होते हैं। सोया हुआ व्यक्ति शक्तिहीन ज्ञात होता है। खड़ा हुआ क्रियाशील जान पड़ता है। प्राचीन काल में जब राजा विजय करके लौटता था तो एक ऊँचे से ऊँचा विजयस्तम्भ बनवाता था और यह विजयस्तम्भ कभी भी पड़ा हुआ नहीं बनाया जाता था। इसका ऊँचा तथा सीधा खड़ा होना अत्यन्त आवश्यक था।

इस प्रकार विभिन्न प्रकार की रेखाओं के योग से विभिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न किये जा सकते हैं ।

रङ्ग

चित्रकला में सबसे अधिक महत्त्व रंग को दिया जाता है । इसका कारण यह है कि मनुष्य की दृष्टि रंगीन वस्तुओं पर पहले जाती है, तब सादी वस्तुओं पर । यदि किसी वस्तु की ओर लोगों की दृष्टि आकृष्ट करनी हो तो उसमें सबसे पहले अत्यन्त चटकीला भड़कीला रंग देना पड़ता है । वैसे तो बहुत से पक्षी घरों में पाले जाते हैं, पर तोता अधिक पसन्द किया जाता है, क्योंकि उसका रंग बहुत आकर्षक होता है । यह बात मनुष्य की प्रकृति में बचपन से ही होती है । बचपन में लड़के लाल रंग की वस्तुएँ अधिक चाहते हैं, क्योंकि वे अधिक भड़कीली और चमकीली होती हैं ।

पर जैसे-जैसे हम बड़े होते जाते हैं वैसे-वैसे हमारी अभिरुचि कुछ विशेष रंगों की ओर होने लगती है । कोई नीले रंग के वस्त्र चाहता है, कोई हरे और कोई लाल । इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि मनुष्य की शान्त, उग्र, सरल, हँसमुख, लजीली तथा उद्दण्ड; जैसी प्रकृति होती है वैसा ही शान्त रंग, गर्म रंग, शीतल रंग, मटमैला रंग वह चुनता है । बहुत से लोग किसी का वस्त्र और उसका रंग ही देखकर बड़ी सरलता से उसका स्वभाव और चरित्र जान लेते हैं । इसका कारण है कि प्रत्येक रंग की अपनी एक विशेषता, स्वभाव तथा मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है । यदि कोई व्यक्ति विभिन्न रंगों की विशेषताओं से परिचित हो तो वह बहुत सफलता से ये सब बातें बता सकता है । इसी तरह चित्रकला में भी यदि चित्रकार को रंग और उसके स्वभाव का पूर्ण परिचय या अध्ययन हो तो वह अपने चित्रों में रंगों का इस प्रकार प्रयोग कर सकता है कि उन रंगों को देखकर और उनके गुणों को पहचान कर कोई भी यह जान सकता है कि चित्र में किस तरह के स्वभाव या मनोभावों का वर्णन है । जिन चित्रकारों ने रंगों का इस प्रकार वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करके चित्रांकन किया है, निस्सन्देह उनके चित्र उतने ही प्रभावशाली हैं और वे उतने ही कुशल चित्रकार हैं । इसी प्रकार जो लोग चित्रों को केवल देखकर आनन्द उठाना चाहते हैं, उनके भी अध्ययन का एक वैज्ञानिक आधार होना चाहिए और तभी वे चित्रों का पूरा आनन्द प्राप्त कर सकते हैं । नीचे हम प्रधान रंगों के मनोवैज्ञानिक प्रभाव का विवरण दे रहे हैं ।

रंगों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

लाल रंग हृदय में शक्ति पैदा करता है। इसे देखने से शरीर में एक तरह की धड़कन और हलका कम्पन पैदा होता है और चित्तवृत्ति में एक तरंग पैदा हो जाती है। शरीर की पेशियों में खिचाव-सा आने लगता है, खून का दौरा बढ़ जाता है और साँस जल्दी-जल्दी चलने लगती है। सुर्ख लाल रंग या टूनी गुलनार-सा रंग मन को चुस्त, जोशीला तथा तेज बना देता है। मनुष्य के मन पर इससे अधिक गहरा प्रभाव और किसी दूसरे रंग का नहीं होता। इसलिए चित्र में लाल रंग का प्रयोग बहुत सोच समझ कर करना चाहिए।

लाल रंग से देशभक्ति और धार्मिक अनुराग पैदा होता है। इस रंग से कभी-कभी गर्मी, हलचल, खुशी, आनन्द, सुख और इन्द्रियोत्तेजन होता है। लाल रंग देखने में सबसे अधिक गाढ़ा, आँख को सबसे जल्द दिखाई पड़नेवाला, जोशीला, भड़कीला होता है। इसीलिए यह भय का द्योतक भी है। लाल रंग कभी-कभी क्रोध, क्रूरता, दयाहीनता, कठोरता, कुटिलता, निर्दयता का भी प्रभाव डालता है। इससे लालच, इन्द्रियलोलुपता काम, यातना, घृणा और ध्वंस की भावना भी पैदा होती है। लाल रंग अधिक देखते रहने, से मनुष्य की चित्तवृत्ति अपने काबू में नहीं रहती।

अब नारंगी रंग को लीजिए। इसमें एक तरह की हलकी गर्मी होती है, जो बहुत उष्ण या तीक्ष्ण नहीं होती, परन्तु सहने लायक मुलायम और मातदिल होती है। यह रंग बल-वर्धन करता है। इससे जीवन तथा शक्ति का संचार होता है। मध्यम श्रेणी का नारंगी रंग साँसारिकता की ओर घसीटता है और कभी-कभी सड़न तथा गंदगी का भी द्योतक होता है। पीला रंग ज्योति का द्योतक है। इसको देखने से मन में ज्ञान और प्रकाश का भास होता है। इसका प्रभाव सीधे मस्तिष्क पर पड़ता है और भावों को प्रेरित करता है तथा पारलौकिकता की ओर मन को ले जाता है, बुद्धि को प्रखर करता है। पीला रंग सबसे स्वच्छ और प्रकाशमय होता है। इससे पवित्रता, ज्ञान तथा धार्मिकता का बोध होता है। इसलिए धार्मिक मनुष्य पीला रंग-पसन्द करते हैं। ईश्वर, देवी-देवताओं को अधिकतर पीला वस्त्र ही पहनाया जाता है। पीले रंग से मन का पाप, अधर्म, अशान्ति तथा रोग भागते हैं। पीले रंग से रक्त-संचार में गति उत्पन्न होती है जिससे बदन में स्फूर्ति आती है। परन्तु गन्दा पीला रंग मनुष्य को अधर्मी तथा डरपोक बनाता है।

अब हरे रंग की बारी आती है। हरा रंग शीतलता, स्फूर्ति तथा पुनर्जीवन की ज्योति

जगाता है, बलवर्धक है, नवशक्ति-संचारक होता है । इस रंग से न तो मन में बहुत घबराहट ही पैदा होती है और न दिल की सुस्ती ही देखने को मिलती है । इसलिए यह रंग शान्ति का द्योतक है । शीत प्रकृति का रंग होने से शरीर तथा मन की चंचलता और बेचैनी को दूर भगाता है । मन की गर्मी तथा शारीरिक ताप ज्वरादि को कम करता है । अधिक परिश्रम करनेवाले व्यक्तियों की आत्मा को इस रंग से आराम मिलता है । जो लोग हरा रंग पसन्द करते हैं उनमें स्वत्व की मात्रा बहुत अधिक होती है । हरा रंग अधिक देखने से या इस रंग की चित्र में बहुलता होने से मन में शक्ति, कल्पना, खोज, नये विचार, सूक्ष्मता का मूल्य समझने की शक्ति, अपनापन तथा समृद्धि की वृद्धि होती है । हरा रंग अधिकांश जनता के पसन्द का रंग है । यह लुभानेवाला, मन को स्वच्छ करनेवाला होता है । पर गन्दे हरे रंग का प्रभाव डाह, शत्रुता तथा स्वार्थपरता बताता है ।

अब बारी आती है नीले रंग की । यह रंग भी मन को पारलौकिकता की ओर ले जाता है । यह स्वच्छ, शीतल तथा शुद्ध होता है । यह रंग सत्य का द्योतक है । इसके भी दर्शन से गन्दगी, रोग, कलुषत मिट जाती है । इस रंग का प्रभाव बिजली या चुम्बक जैसा होता है और मन के अन्धकार को दूर करता है । यह शान्ति, अहिंसा, कल्पना तथा गूढ़ तत्त्वों के निर्देशन की गवेषणात्मक शक्ति प्रदान करता है । अन्तःकरण में इस रंग का सुखद-शीतल और शान्तप्रद प्रभाव पड़ता है । यह हमें एकाग्रता, विचार-शीलता, अभिनव कल्पना और मौलिक रचना की ओर प्रेरित करता है । परन्तु मध्यम श्रेणी के नीले रंग का प्रभाव इसके विपरीत ही होता है ।

लाल, पीला, हरा, नीला के अलावा एक और रंग है, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । वह है बैंगनी रंग । यह रंग अपने में जादू का-सा असर रखता है । यह रहस्यमय तथा धार्मिक बलिदान की प्रवृत्ति पैदा करता है । यह काल्पनिक तथा स्वप्निल भावों को जगाता है । मन पर इसका प्रभाव धुँधलापन, भावनाओं की दृढ़ता प्रदान करनेवाला तथा सांसारिकता से ऊपर उठानेवाला होता है । इसका प्रयोग सद्वृत्तियों के प्रकाशनार्थ किया जाय तो यह मन को सत्य, उच्चतम आदर्श तथा मर्यादा की चरम सीमा की ओर अग्रसर करता है । यह मनुष्य को माया-मोहरहित, निश्चेष्ट, क्षणभंगुर तथा निस्सारोन्मुख करता है । यह मन में एकता का भाव उत्पन्न करता तथा आत्मा को विशुद्ध ज्ञान की ओर प्रेरित करता है । प्राचीन काल में यह रंग धैर्य तथा बलिदान के निमित्त प्रयुक्त होता था और प्रायश्चित्त तथा तप का प्रतीक समझा जाता था । उस समय यह रंग कठिनाई से तैयार होता था, अतः यह कीमती रंग समझा जाता था और इसका प्रयोग दरबारों के अतिरिक्त

ग्रौर कहीं नहीं होता था। रोम के वैभव-काल में यह रंग राजकीय रंग समझा जाता था। यह रंग जितना कलात्मक है उतना ही भावात्मक भी। यह विवेक की प्रवृत्ति, रहस्योद्घाटन ग्रौर ग्रदृश्यता को समझाने की शक्ति प्रदान करता है। हलका बैगनी रंग पश्चात्ताप तथा उदासीनता का बोध कराता है।

इन रंगों के मनोवैज्ञानिक ग्रध्ययन ग्रौर प्रयोग से उनका मनोभावात्मक प्रभाव ज्ञात हो सकता है। इस प्रकार उन रंगों की जानकारी प्राप्त कर हमें उनका प्रयोग विवेकपूर्वक ग्रपने चित्रों में करना चाहिए। तभी हम ग्रपने भावों को जोरदार तथा प्रभावशाली बना सकते हैं। रंगों के ग्रध्ययन में एक बात सदैव स्मरणीय होनी चाहिए कि किसी रंग के हलके तथा गाढ़े रंग का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। जैसे चमकदार गाढ़ा बैगनी रंग मन को उदासीनता की ग्रोर ले जाता है, स्फूर्ति लद्धड़पन में परिणत हो जाती है।

शीत ग्रौर उष्ण प्रकृतिवाले रंग

रंगों के प्रभाव के ग्रनुसार उन्हें पहले दो भागों में बाँटा जाता है——उष्ण ग्रौर शीत प्रकृतिवाले रंग। सौर रंग-सिद्धान्त के ग्रनुसार सूर्य की किरणें जब कोणाकार शीशे में से छनकर निकलती है तो उनसे छ: रंग बनते हैं ; लाल, नारंगी, पीला, हरा, नीला ग्रौर बैगनी। ये रंग इसी क्रम से एक दूसरे के पश्चात् दिखाई देते हैं। पहलेवाले तीन रंग——लाल, नारंगी ग्रौर पीला——सबसे ग्रधिक चमकीले होते हैं, ग्रर्थात् ये रंग सूर्य की गर्मी को सबसे ग्रधिक छिटकाते या फैलाते हैं ग्रौर इसीलिए ये उष्ण कहे जाते हैं। पीछे वाले रंग——हरा, नीला ग्रौर बैगनी——कम चमकीले ग्रौर कम भड़कीले होते हैं, ग्रर्थात् वे सूर्य की गर्मी ग्रपने में ग्रधिक खींचते हैं ग्रौर नष्ट कर देते हैं, इसलिए वे ठंडक पहुँचाते हैं, ग्रत: वे ठंडे रंग कहे जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य की प्रकृति भी ठंडी ग्रौर गर्म होती है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में इसी प्रकार ठंडक ग्रौर गर्मी होती है। इसी ठंडक ग्रौर गर्मी का जिस मनुष्य पर जितना प्रभाव पड़ता है, वैसा ही उसका स्वभाव तथा चरित्र बन जाता है।

ग्रब रंग तथा उसकी प्रकृति से हम परिचित हो गये। यदि हम विचार करके निश्चित कर लें कि कौन-से विचार तथा मनोभाव ठंडे ग्रौर गर्म हैं तो उन्हीं के ग्रनुसार रंगों का प्रयोग करके हम वैसा ही प्रभाव ग्रपने चित्रों द्वारा दूसरों पर डाल सकते हैं। इस प्रकार सृष्टि की ठंडी वस्तुग्रों को हम केवल ठंडे रंगों से चित्रित कर सकते हैं ग्रौर गर्म वस्तुग्रों को गर्म रंगों से। सूर्य हमें देखने में उजला ग्रौर चमकीला लगता है ग्रौर वैसा ही चित्रित

भी किया जाता है, पर उसे यदि कोई लाल रंग से चित्रित करे तो वह और प्रभावशाली लगेगा और अपनी प्रकृति के अनुसार ही चित्रित होगा। बहुत से पौराणिक भारतीय चित्रों में सूर्य को बहुधा लाल रंग से ही चित्रित किया गया है। रंगों के प्रभाव और उनकी आवश्यकताओं की उपयोगिता का विचार करके ही भारतीय चित्र निर्मित हुए हों, ऐसा देखने में बहुत कम आता है, प्रधानतः वे चित्र जो बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल से पूर्व या बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक पचास वर्षों में बने हैं। इसका मुख्य कारण यही रहा है कि रंग और उनकी विशेषताओं को अच्छी तरह समझने का बहुत कम प्रयत्न हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में भारतवर्ष में जो चित्रकला उपजी है, वह पाश्चात्य कला का अनुकरणमात्र ही रही और वह भी बहुत मध्यम श्रेणी की। इस समय कुछ चित्रकार ऐसे भी थे जो अपने को पौर्वात्य कहते रहे और अपने चित्रों को आदर्शवाद के भीतर सम्मिलित करते रहे। जिन लोगों पर पश्चिम की छाप पड़ी, उनके रंगों का प्रयोग केवल सृष्टि के अनुकरण मात्र तक ही सीमित रहा। वे आँखों से जैसा चित्र देखते थे वैसा ही उसमें रंग भर देते थे और उसमें वे अपनी ओर से सोच-विचार कर रंगों का वैज्ञानिक प्रयोग नहीं करते थे। पौर्वात्य चित्रकार अपने को भारतीय प्राचीन कला-परंपरा का अनुयायी बताते रहे और उन्होंने उसको समझने और उसके अनुसार चलने का प्रयास भी किया, पर खोज का काम अधिक न हो सका। उन्होंने केवल प्राचीन चित्रों का ही आश्रय लिया और उन्हीं का अनुकरण किया, जैसा वे समझ सके उसी के अनुसार चित्रकारी करने लगे। यदि कोई अजन्ता से प्रभावित हुआ तो वह उसी तरह के रूप, वैसे ही रंगों का प्रयोग अपने चित्रों में करने लगा। वह इस ओर नहीं झुका कि रंगों के चुनाव का आधार क्या था? जानने का प्रयत्न करता। मुगल चित्रकार सभी चित्रों में अधिकतर लाल चमकदार रंग भरते थे, अतः इन चित्रकारों ने अन्धाधुन्ध अनुकरण करना प्रारंभ किया। ऐसा उन्होंने किसी विवेक से नहीं किया। इस प्रकार के दोनों ही चित्रकार यदि कभी अपने आदर्शों का अतिक्रमण भी करते तो केवल इतना ही कि वे अपनी रुचि के रंगों को भी अपने चित्रों में स्थान देने लगे थे, जिसके लिए उनके पास अपना कोई सिद्धान्त नहीं था, केवल प्रतिक्रियात्मक प्रयोग से वे समझने का प्रयत्न करते थे कि कहाँ कैसा रंग अच्छा लगेगा। चित्र बनाने की कसौटी या पहचान यह थी कि अच्छा या सुन्दर चित्र कैसे बनेगा। इसके भी कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं थे, केवल तात्कालिक प्रयोग की सहायता से वे जान लेते थे कि कौन-सा रंग कहाँ सुन्दर लगता है। यदि चित्र में क्रोधी रावण चित्रित करना है तो उसका वस्त्र वे हरे या नीले रंग का भी बना सकते थे, क्योंकि वह उनकी रुचि का रंग है और वह रंग चित्र में फबता भी है। इसी प्रकार

रुचि पर निर्भर रहनेवाले प्रत्येक रंग का प्रयोग चलता रहा। परिणाम यह हुआ कि आज जब चित्रकला का विद्यार्थी चित्रकारी आरम्भ करने बैठता है तो वह बड़ी कठिनाई में पड़ता है कि उसके सामने रंग प्रयोग के कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं हैं।

पर आज चित्रकला का विद्यार्थी आँख मूँदकर काम नहीं करना चाहता। वह कला के सिद्धान्तों का अध्ययन कर चित्रालेखन करना चाहता है जिससे वह उनमें नवीनता ला सके और दूसरों को एक उचित मार्ग दिखा सके। चित्रकला अब एक रहस्यपूर्ण कला न रहकर वैज्ञानिक ढंग से चलना चाहती है, जिससे सभी उसके मार्मिक सिद्धान्तों तथा उसके सौन्दर्य का आनन्द ले सकें।

अब तक भारतीय भाषाओं में चित्रकला का वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बहुत कम विश्लेषण हो पाया है। पुराणों में भी तत्सम्बन्धी वर्णनों का अभाव है, वे उनके विषय में कुछ थोड़ा ही कहकर चलते बने हैं। आज इन सब कारणों से चित्रकला के विद्यार्थी के सामने अध्ययन करने में अनेकों कठिनाइयाँ हैं। जो विद्यार्थी आँखें खोलकर वैज्ञानिक ढंग से चित्र-विद्या का अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें यह एक नये विषय की भाँति जान पड़ती है। फिर भी सिद्धान्तों में इतना विरोध तथा उनकी इतनी कमी होने पर भी कला के नवीन विद्यार्थी जिज्ञासु की भाँति आगे बढ़ रहे हैं और इस प्रकार की खोज में अग्रसर हो रहे हैं।

अभी तक रंग के महत्त्व और उसकी सीमा के विषय में बहुत ही कम खोज भारत में हो पायी है। अभी तक अजन्ता के रंगों का लोग पता नहीं लगा सके कि वे कौन रंग हैं और कैसे बनाये गये हैं, जो इतने वर्ष बीत चुकने पर भी वज्रलेप के समान बिलकुल नवीन प्रतीत हो रहे हैं। किन सिद्धान्तों पर वहाँ रंग का प्रयोग हुआ है इसका पता अब कुछ चलने लगा है। आधुनिक भारतीय चित्रकारों में रंग पर खोज करनेवाले डा० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री नन्दलाल बोस, श्री यामिनी राय तथा अमृता शेरगिल के ही नाम सामने आते हैं। इनमें रंग पर सबसे अधिक अध्ययन अमृता शेरगिल का समझा जाता है। अमृता शेरगिल की खोज चाहे कैसा भी महत्त्व क्यों न रखती हो, उनके सभी चित्रों में रंग की महत्ता का स्पष्ट दर्शन होता है। उनके रंग-सिद्धान्त के विषय में हम विशेष नहीं लिखेंगे, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही ढंगों से रंगों का प्रयोग और अध्ययन किया था। यामिनी राय ने रंगों के सरलतम प्रयोग ही किये हैं, इसलिए उनके चित्रों में सरलता तो है पर गम्भीरता का अभाव है। उन्होंने कुछ चुने-चुनाये रंगों का ही प्रयोग किया है, पर बड़ी ही सावधानी और खोज के पश्चात्।

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर तथा नन्दलाल बोस का अधिक समय रंग-चित्रण सम्बन्धी अन्वेषण में ही बीता, पर इसमें भी साहित्य की कमी से उनको अधिक सामग्री नहीं प्राप्त हो सकी, केवल उसकी एक झलक-सी ही उनको प्राप्त हुई है। वास्तव में यह प्रयास बड़े महत्त्व का है, यदि इस शैली के चित्रकार इससे आगे भी कुछ अधिक खोज को बढ़ा सकते। इसलिए खोज का कार्य भावी चित्रकारों को चलाते रहना चाहिए, जिससे चित्रकला के सिद्धान्त बन सकें और भारत की चित्रकला का विकास अधिकाधिक हो सके।

चित्र-संयोजन

किसी भी कला में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य संयोजन का होता है। कुछ विचारक तो कला का तात्पर्य किसी भी वस्तु की रचना-क्रिया से समझते हैं। जैसे कवि शब्दों के चयन से, और संगीतज्ञ स्वरों के मेल से सरस संयोजन करते हैं, चित्रकार भी रूप-रंग के उचित सम्मिश्रण तथा अनुपात से संयोजन कर चित्र का निर्माण करता है। संयोजन प्रायः सभी करते हैं, परन्तु जिसका संयोजन जितना ही विलक्षण और सुन्दर होता है उसका चित्र उतना ही आकर्षक होता है।

संयोजन का महत्त्व वस्तुओं के अलंकरण मात्र से कदापि नहीं है, हाँ; विभिन्न वस्तुओं के संयोजन से अद्भुत चमत्कार अवश्य उत्पन्न किये जा सकते हैं। आज विद्युत्, वायुयान, रेडियो तथा ऐटम बम आदि वस्तुओं का आविष्कार हो चुका है। यह सर्वविदित है कि गंधक और पोटास के संयोजन से पटाखे का निर्माण होता है, हलदी और चूने के सम्मिश्रण से एक प्रकार का लाल रंग (रोरी) निर्मित होता है। चूने और हलदी का अनुपात या संयोजन जैसा होगा, वैसा ही गाढ़ा या हलका लाल रंग बनेगा। इसलिए किसी भी रचनात्मक कार्य में संयोजन का कार्य बहुत ही विलक्षण होता है। प्रत्येक कला में संयोजन के कुछ न कुछ सिद्धान्त स्थिर कर लिये जाते हैं, जिससे इच्छानुसार उस संयोजन का प्रभाव और परिणाम ज्ञात हो सके। आपको नारंगी रंग बनाना है। शुद्ध लाल तथा शुद्ध पीले के सम-संयोजन से नारंगी रंग बनता है। इसमें यदि लाल के साथ नीले रंग का संयोजन करें तो हम कदापि अपने प्रयत्न में सफल न हो सकेंगे। अतः चित्रकला-संयोजन-सिद्धान्त को बिना समझे चित्रांकन नहीं किया जा सकता। जो चित्रकार इस प्रकार के सिद्धान्त-रहित चित्र बनाया करते हैं उनके चित्र उसी प्रकार के होते हैं जैसे किसी कूड़ाखाने में कूड़ा, जिसमें असंख्य वस्तुएँ बिना किसी संयोजन-सिद्धान्त के फेंक दी जाती हैं और उनका परिणाम यह होता है कि वे सब मिलकर सड़ती हैं तथा दुर्गन्ध उत्पन्न करती हैं।

संगीत-संसार के अमर कलाकार तानसेन में क्या विशेषता थी, जो अपने संगीत के प्रभाव से मदान्ध दिग्गजों को भी टस से मस नहीं होने देता था, रुग्ण हृदयों को स्वास्थ्य-दान देता था, बुझे दीपों को ज्योति-दान करता था और शून्य नभमण्डल में मेघमालाएँ बुलाकर अजस्र-रसधार से संतप्त हृदयों को रससिक्त करता था। इसका रहस्य क्या था? कहना न होगा कि वह था उसका एक प्रौढ़ और संयत स्वर-संयोजन-सिद्धान्त। चित्रकला लोक में ऐसा चमत्कार और कहीं नहीं मिला, इसका कारण स्पष्ट है कि चित्र-कलागत रूप-रंग-संयोजन परिपक्व नहीं हो पाया। यदि हमें भारतीय चित्रकला के वास्तविक रूप का दिग्दर्शन करना है, उसे जीवन के उच्चादर्श की वस्तु बनाना है, तो हमें संयोजन के सुगम तथा शुद्धतम सिद्धान्तों का अन्वेषण करना होगा। चित्रकला तभी सार्थक होकर समाज का कल्याण कर सकेगी। खेद का विषय है कि इस प्रकार के बहुत ही कम सिद्धान्त हमें ज्ञात हैं और हमारा पौराणिक साहित्य भी इस सम्बन्ध में प्रायः मौन है। ऐसी परिस्थिति में भावी चित्रकार ही सिद्धान्तों का अनुसंधान कर चित्रकला में पथ-निर्देशन के लिए उत्तरदायी है।

'संयोजन' प्रबन्ध का ही दूसरा नाम है या इसे निबन्ध भी कह सकते हैं। कभी एक वस्तु का और कभी कई वस्तुओं का संयोजन किया जाता है। एक कमरे में एक मेज अलंकरण की दृष्टि से रखना है, यह एक वस्तु का संयोजन है। यदि एक मेज, चार कुर्सी, एक रेडियो और एक आलमारी किसी कमरे में सुसज्जित करना है, तो यह कई वस्तुओं का संयोजन होगा। इन सभी वस्तुओं को कमरे में अस्त-व्यस्त छोड़ देने से कमरे का स्वाभाविक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अधिकांश वस्तुओं का उपयोग आवश्यकतानुसार भी हुआ करता है। ऐसा देखा गया है कि लोग वातायन के सन्निकट ही मेज व्यवस्थित करते ह, जिससे मंद-मंद शीतल गन्धवाहक वायु का आनन्द मिलता रहे। उससे लगा आलमारी का क्रम रहता है, जहाँ से वस्तुएँ सरलता से आवश्यकतानुसार बाहर-भीतर कर सकें। समीप में ही इसकी ओर निद्रा-देवी के आतिथ्य-सत्कार के लिए पलंग सुसज्जित रहता है। उसके निम्न भाग में मक्खियों के सहयोग के लिए पीकदान और वहीं पार्श्व में भोजन के व्यञ्जनों से भरा थाला। यह है एक आलस्य-पूर्ण संयोजन-सिद्धान्त, जहाँ न स्वास्थ्य का ही हित-चिंतन है और न तो आत्मिक आनन्द का ही। आगन्तुक के लिए तो एक क्षण एक युग हो जाता है। इस प्रकार के अस्त-व्यस्त संयोजित चित्र अथवा कुप्रबन्ध से निर्मित चित्रों को देखकर, हमारे मनोभाव हमें बाध्य करते हैं कि उन चित्रों को हम नष्ट कर दें। इन चित्रों से आत्मरञ्जन तो दूर रहा, इन्हें देखकर एक प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ता है। चित्रांकन का उद्देश्य है आत्म-संतुष्टि और

उसके सफल संयोजन का तो इतना मूल्य है कि वह परिस्थिति निर्माण करके जगद्व्यापी भावना से एक-एक प्राणी का अन्तःकरण भर कर शील और श्रद्धा को हृदय में बैठा दे ।

चित्र-संयोजन का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग लक्षणात्मक संयोजन भी होता है । एक वयोवृद्धा सिर पर गट्ठर का भार लिये, हाथ में भग्न लकुटि के सहारे निर्जन पथ पर, ठूँठ के समीप से गोधूलि के लड़खड़ाते अंशुमाली के साथ पग मिलाती हुई चित्रित की गयी है । चित्र का शीर्षक है 'पथिक की सन्ध्या' । इस चित्र में वयोवृद्ध के सिर का बोझ उसके जीवन का बोझ लक्षित कराता है, भग्न-दंड खण्डित सुहाग, शुष्क-वृक्ष जीवन की नश्वरता का संदेश और लड़खड़ाते पग बुद्धि के ह्रास की व्यन्जना कराते हैं । सरस-तरु तथा बाल-रवि के माध्यम से चित्र-संयोजन का वह अभीष्ट भाव लक्षित करने में हम सर्वथा असफल सिद्ध होंगे, जिसका वर्णन अभी कर आये हैं ।

चित्र-संयोजन कभी-कभी इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, जब हम उसे वैज्ञानिक ढंग से चित्रित करते हैं । इसके और भी प्रकार होते हैं जिनकी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक होगी । प्रारम्भिक अवस्थाएँ क्या हैं, जिनके आधार पर रुचिकर संयोजन किया जाता है । हमने अपनी बैठक के सामने एक उपवन लगाने के लिए माली से आग्रह किया । वह सम्पूर्ण भूमि गोड़कर, कहीं आलू, कहीं सेम और अस्त-व्यस्त ढंग से यत्र-तत्र फूलों की क्यारियाँ बना देता है । यहाँ सम्भवतः प्रश्न उठता है कि इसमें आने-जाने का मार्ग कहाँ है ? केशर, गुलाब, की क्यारियों में पहुँच कर उनके सरस-रस का गन्धपान करने का स्थान कहाँ है ? माली का ध्यान अपनी संयोजन-विहीनता की ओर आता है, और उसे भलीभाँति ज्ञात हो जाता है कि वह अपना काम उचित ढंग से करना नहीं जानता । एक दूसरा चित्र है 'गाँव के निकटवर्ती खेतों का चित्रण'' । चित्रकार कागज को गाँव के घरों और पेड़ों से इस प्रकार भर देता है कि खेत बनाने का स्थान कागज में नहीं के बराबर बच पाता है । इस प्रकार यदि प्रबन्ध की एक पूर्व निश्चित बाह्य रूपरेखा स्थिर किये बिना ही चित्र-संयोजन किया जाय तो निस्संदेह वह एक हँसने-हँसाने की ही वस्तु होगी । अतः सफल चित्रांकन में संयत तथा सुन्दर प्रबन्ध की कल्पना नितान्त आवश्यक होती है । यह सब तभी संभव है जब हमें संयोजन-सिद्धान्त का पूर्ण ज्ञान हो ।

कतिपय विद्वानों तथा कलाकारों के विचार से सफल-संयोजन की भावना विशेष अध्ययन बिना ही क्रमशः स्वतः उत्पन्न हो जाती है । उन्हें भय है कि संयोजन के निश्चित निष्कर्ष कठोर नियमों में परिणत होकर कलाकार के चित्रों की स्वाभाविकता तथा

मौलिकता की इतिश्री कर देंगे। हमारा ध्यान इस ओर जाना चाहिए कि संयोजन का अर्थ यह नहीं है कि दूसरों के बनाये हुए नियमों को सुविचार किये बिना ही प्रयोग में लाया जाय। नियामक चाहे जितना महान् और बुद्धिमान क्यों न हो कुछ निष्कर्षों का उचित उपयोग अवश्य है, जिनकी महत्ता व्यक्तिगत अनुभव से ही हृदयंगम की जा सकती है। नियम का अन्धाधुन्ध अनुसरण प्रायः हानिकर सिद्ध हुआ है। नियम की सत्ता विश्वसनीय और अविश्वसनीय दोनों ही हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वानुभव से नियमों को परख कर अपना एक व्यवस्थित नियम बनाना चाहिए क्योंकि दूसरों के निष्कर्षों पर भरोसा नहीं किया जा सकता। मनुष्य स्वतः किसी गुरुतर कार्य के लिए तब तक नहीं उद्यत होता, जब तक कि उस कार्य की श्रेष्ठता में उसका व्यक्तिगत विश्वास न हो और यह विश्वास उसके व्यक्तिगत अनुभव तथा अनुसन्धान से ही उत्पन्न हो सकता है। किन्तु हमारा अनुसन्धान अवश्य ही विवेकपूर्ण होना चाहिए, अन्यथा बहुत संभव है कि हम जीवनपर्यन्त चित्रांकन करके भी चित्र के लिए अनेक आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण गुणों को न जान पायें और छोड़ दें।

अनुपात

प्रत्येक चित्र में प्रायः किसी एक पक्ष को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस पक्ष को हम 'मुख्य-विषय' कहते हैं। मुख्य-विषय के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह कोई एक ही वस्तु या आकृति हो वरन् वह कई वस्तुओं का एक समूह भी हो सकता है। चित्र के जो भाग मुख्य विषय में सम्मिलित नहीं रहते, उन्हें हम 'गौण विषय' कहते हैं। चित्रकला प्रारम्भ करनेवाले विद्यार्थी कभी-कभी अपने चित्रों में मुख्य विषय की अपेक्षा गौण विषय को अधिक प्रधानता देते हैं। इसी तरह कभी-कभी वे अपने चित्र में रिक्त स्थान अधिक छोड़कर प्रधान विषय को बहुत छोटा रूप दे देते हैं, जिससे उसकी प्रधानता का भाव नष्ट हो जाता है।

संयोजन के सिद्धान्तों में ध्यान देने योग्य बात यह है कि चित्र में प्रधान विषय को ही महत्त्व मिलना चाहिए और गौण वस्तुएँ भी इसीलिए चित्रित की जायँ कि वे प्रधान विषय को और भी उभार दें। यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि मुख्य विषय गौण वस्तुओं से दबने न पाये।

ऐसा संयोजन प्राप्त करने के लिए चित्र में दी हुई वस्तुओं के अनुपात में मुख्य वस्तु को सबसे बड़ा बनाना चाहिए। मान लीजिए, आपको कृष्ण की मुरली का चित्र बनाना है। ऐसा करने के लिए कोई एक बड़ा दृश्य बना सकता है, जिसमें एक उपवन में कृष्ण

जी बैठे हुए हैं और मुरली बजा रहे हैं । इस चित्र में उपवन को बहुत महत्त्व दिया गया है और सबसे बड़ा कृष्ण को बनाया गया है । इस चित्र को हम 'कृष्ण की मुरली' शीर्षक नहीं दे सकते, क्योंकि यहाँ मुरली से अधिक महत्त्व कृष्ण को दिया गया है और कृष्ण के पास मुरली तो सदैव रहती ही है । इस चित्र को हम 'कृष्ण' कह सकते हैं और इसलिए यह हमारा सही संयोजन नहीं कहा जायगा ।

दूसरा चित्र ऐसा है जिसमें केवल एक मुरली बनी हुई है । इसको देखकर यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि यह कृष्ण की मुरली का चित्र है ।

तीसरे चित्र में एक मुरली बनी हुई है जिसके पास एक मोर का पंख पड़ा हुआ है और चित्र में इन्हीं दोनों वस्तुओं को प्रधानता दी गयी है । यह चित्र कृष्ण की मुरली का यथार्थ चित्र होगा तथा यह संयोजन सही कहा जायगा । मुरली के समीप मोरपंख देखकर कृष्ण की मुरली का ज्ञान भी हो जाता है और मुरली की प्रधानता भी रहती है ।

इसलिए चित्र बनाते समय हमें यह सदैव समझ लेना चाहिए कि कौन-सी वस्तुएँ चित्र का मुख्य विषय हैं और कौन-सी गौण ।

दूसरी बात जो हमें सम्बन्धित अनुपात के विषय में जाननी चाहिए, यह है कि एक दिये हुए क्षेत्र में किसी वस्तु को हम किस स्थान पर रखें कि उस वस्तु का और उस क्षेत्र का एक रुचिकर सम्बन्ध हो । मान लीजिए एक वृत्त को एक वर्ग के भीतर इस तरह से रखना है कि वह रुचिकर हो । यदि उसको समवर्ग के ठीक मध्य में रख दिया जाय तो चारों दिशाओं में समानान्तर स्थान खाली रहेगा और देखने में वह चित्र बिलकुल प्रभावहीन होगा । जैसे रात में यदि चन्द्रमा बिलकुल सिर पर उगे तो वह देखने में बहुत रुचिकर नहीं लगता । उसी प्रकार यदि चन्द्रमा सारे आकाश में कहीं दृष्टिगोचर न होकर आकाश के किसी एक कोने में दृष्टिगोचर हो तो वह पृथ्वी से इतना समीप रहता है कि वह पृथ्वी की वस्तुओं का ही एक अंग-सा मालूम पड़ने लगता है और उसका सौन्दर्य पूरी तरह निखारने में पृथ्वी की वस्तुएँ बाधक-सी हो जाती हैं । परन्तु यदि चन्द्रमा आकाश में देखनेवाले की दृष्टि से लगभग ६० अक्षांश के ऊपर निकले तो वह सबसे अधिक रुचिकर प्रतीत होता है, क्योंकि उसका और पृथ्वी का ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि अपने स्थान पर पृथ्वी और चांद दोनों ही सुन्दर लगने लगते हैं । यह बात आप स्वयं भी अनुभव कर सकते हैं ।

इसी प्रकार समवर्ग के भीतर यदि वृत्त को कोने में रख दिया जाय तो शेष स्थान का वृत्त से सम्बन्ध बहुत ही असन्तुलित हो जायगा और उन दोनों वस्तुओं में कुछ भी एकता

नहीं जान पड़ेगी । तीसरा ढंग—वृत्त को समवर्ग में इस तरह रखा जाय कि न वह मध्य में ही हो, न बिलकुल कोने में ही बल्कि समवर्ग की चारों भुजाओं से उसका सम्बन्ध भिन्न-भिन्न हो । यह सम्बन्ध चित्र में औरों से अधिक रुचिकर प्रतीत होता है ।

वस्तुओं में रुचिकर सम्बन्ध

जब चित्र में एक से अधिक वस्तुओं को चित्रित करना हो तो यह आवश्यक नहीं है कि सभी वस्तुएँ एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न या दूर-दूर दिखाई जायँ । जिन चित्रों में इस बात का ध्यान नहीं रहता उनमें दृष्टि को विविध वस्तुओं को अलग-अलग देखना पड़ता है और देखनेवाला एक ही साथ पूरे चित्र का आनन्द नहीं उठा पाता, जो बहुत ही आवश्यक है । इस तरह चित्र की एकता नष्ट हो जाती है और विविध वस्तुएँ विविध मन पर विविध प्रभाव डाल कर चित्त को एकाग्रता और शांति तो नहीं देतीं, प्रत्युत अशान्ति उत्पन्न करती ह ।

कभी-कभी एक वस्तु का केवल एक भाग ही चित्र में दिखाया जाता है, शेष चित्र की परिधि से कटा रहता है—जैसे पेड़ की डाल, उस पर चिड़िया और बगल में चन्द्रमा । कभी एक वस्तु का कुछ भाग दूसरी वस्तु के पीछे भी पड़ जाता है जैसे चौका और बेलन । दोनों ही परिस्थितियों में यह ध्यान रखना चाहिए कि वस्तुएँ एक दूसरे से ऐसी न दब जायँ कि पहचानी न जा सकें । जब किसी वस्तु का कोई अंग चित्र के बाहर कट गया हो तो भीतरवाला अंग दृष्टि को मुख्य विषय की ओर इंगित करता है । इससे चित्र और भी रुचिकर हो जाता है और मुख्य विषय की प्रधानता बढ़ जाती है, जैसे—पेड़ की डाल और चिड़िया के चित्र में अगर पूरा पेड़ दिखाया जाय तो चिड़िया इतनी छोटी हो जाती है कि मुख्य विषय गौण हो जाता है ।

कभी-कभी चित्र में जब दो वस्तुओं को अलग-अलग दिखाना अनिवार्य हो जाता है ऐसी स्थिति में उसे किसी दूसरी वस्तु से इस प्रकार जोड़ देना चाहिए कि चित्र की एकता नष्ट न हो । जैसे 'मुसाफिर' और 'पगडंडी' के चित्र में ।

आकृतियों का संयोजन

जब एक से अधिक आकृतियों का संयोजन करना हो तो इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि वे सब एक ही स्थिति में एक ही ढंग से न रखी जायँ चाहे वे सब एक ही कार्य कर रही हों । हाँ, यदि कहीं सैनिक एक साथ संचरण कर रहे हों या कुछ स्त्रियाँ एक साथ कतार में नाच रही हों तब तो उन्हें एक स्थिति में दिखाना ही पड़ेगा, यद्यपि

उसमें भी इस तरह की एक ही स्थिति में सभी वस्तुएँ नहीं होंगी । जैसे—सेनापति सामने अलग खड़ा होकर आज्ञा दे रहा होगा और दूसरे उपसेनापति भी अलग दिखाई पड़ेंगे। इसी तरह नृत्य में भी नायिका संभवतः कोई दूसरा ही रूप दिखा रही होगी।

इस तरह संयोजन करते समय खड़े होने, बैठने, झुकने, लेटने इत्यादि सभी स्थितियों का सम्मिश्रण होना चाहिए। किसी का सामने का रूप, किसी की पीठ, किसी का आधा भाग, किसीका चौथाई भाग दिखाई पड़ेगा। इस प्रकार की सैकड़ों स्थितियाँ हो सकती हैं, पर आवश्यकता के अनुसार चुनकर एक रुचिकर संयोजन करना चाहिए। वैसे तो कलाकार को इस तरह की स्थितियाँ चुनने की पूरी स्वतंत्रता है, पर यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि चित्र में रूढ़ता न आने पाये, बल्कि चित्र में भाव-वैचित्र्य की वस्तुएँ रहें ताकि देखने में चित्र भोंड़े न जान पड़ें।

पुनरावृत्ति

चित्रकला में भी काव्यकला तथा संगीतकला के अनुसार लय तथा छन्द गति लाने के लिए कुछ रेखाओं, कुछ रंगों और रूपों को दोहराने की आवश्यकता पड़ती है। जैसे—संगीत में कुछ झनकारों और कविता में कुछ शब्दों को बार-बार दोहराना पड़ता है, उसी प्रकार चित्रकला में कुछ आकारों को बार-बार कई स्थानों में दिखाना पड़ता है। इससे चित्र में एकता बढ़ जाती है। रंगों से भी यह एकता लायी जाती है। संध्या समय सूर्य की लाल किरणें जब सृष्टि के पदार्थों पर पड़ती हैं तो सभी में कुछ लालिमा आ जाती है। इसी प्रकार चित्र में रंगों को बार-बार दुहराना पड़ता है। पर इस तरह की पुनरावृत्ति का बहुत ही सावधानी से प्रयोग करना चाहिए। इतना अधिक प्रयोग नहीं होना चाहिए कि वही प्रधान होकर खटकने लगे। विचारपूर्वक यदि यह पुनरावृत्ति की जाय तो चित्र में बहुत बल आ जाता है, रोचकता बढ़ जाती है और संगीत की तरह चित्र में भी चित्ताकर्षक भाव उत्पन्न हो जाता है जो मन को अत्यधिक आनन्दित करता है। आवश्यकता से अधिक ऐसा करने से चित्र में खींचतान के द्वारा एक रूपता उपत्न्न हो जाती है और वह चित्र केवल बाजीगर के विस्तार-सा ही रह जाता है।

ऊपरी सतह की बनावट

इससे तात्पर्य किसी रूप या आकार के खुरदुरेपन, चिकनेपन, चमक, कोमलता, कठोरता, जाला, काटे, या उस के इस तरह के और किसी अन्य ऊपरी स्तर की रचना से होता

है। मान लीजिए, एक लीची का फल चित्रित करना है । वैसे तो पके हुए बड़े लाल बैर का रंग और आकार भी लीची-सा ही होता है । इसमें अन्तर केवल ऊपरी स्तर की बनावट में होता है । यदि चित्र में भी लीची का काँटेदार स्तर न बनाया जाय, तो उसे पहचानना कठिन हो जायगा । इसी प्रकार बहुत-सी वस्तुओं के ऊपरी स्तर की बनावट एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होती है । इसलिए वस्तुओं को सही रूप में चित्रित करने के लिए चित्रकार को इसके ऊपरी स्तर का पूर्ण ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है ।

चित्र या वस्तुओं में ऊपरी स्तर की बनावट केवल उन्हें पहचानने में ही सहायता नहीं देती, वरन् उनको देखने से मनुष्य के मनोभावों पर भी भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है । कभी-कभी तेल की सतह देखने से मन में किचकिचाहट-सी उत्पन्न होती है । एक सुन्दर सुकुमार बालक की कोमल देह की कोमलता को देखकर एक युवती की त्वचा को देखकर और एक मल्ल के गठे हुए शरीर की त्वचा को देखकर मन में भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न होते हैं । संगमरमरकी धवल चिकनाई को देख-कर और झाँवा पत्थर की ऊपरी सतह को देखकर भी मन में भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न होते हैं । इसलिए वस्तुओं के ऊपरी स्तर की बनावट का भी चित्र में विशेष महत्त्व है ।

प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में विभिन्न प्रकार के ऊपरी स्तर दिखाई पड़ते हैं । यदि ऐसा न होता तो संभवतः विभिन्न वस्तुएँ उतनी रुचिकर न जान पड़तीं । एक अच्छे चित्र में भी वस्तुओं के ऊपरी सतह में पर्याप्त विभिन्नता होनी चाहिए । इससे चित्र में रुचि और अधिक बढ़ जाती है ।

यह हमें आरम्भ से ही जान लेना चाहिए कि वस्तुओं में ऊपरी स्तर की बनावट विभिन्न प्रकार की होती है । जब भी हम किसी वस्तु को देखें या उसका निरीक्षण करें, तब हमें उसके ऊपरी स्तर का भलीभांति निरीक्षण कर लेना चाहिए । केवल उसे देख लेने से ही काम न चलेगा । वस्तुओं के ऊपरी स्तर की विभिन्न रचनाओं के ज्ञान के लिए उन्हें छूकर उनके विषय में जानना आवश्यक है, यदि वह संभव हो तो । बच्चों में यह बात आरंभ से ही होती है । एक वर्ष से कम उम्र का शिशु भी किसी भी नयी वस्तु को देखकर उसे छूना चाहता है । उसका तात्यपर्य यही होता है कि वह विभिन्न वस्तुओं की ऊपरी बनावट को भी पहचानना चाहता है । प्रत्येक चित्रकला के नये विद्यार्थी को वस्तुओं के ऊपरी स्तर का ज्ञान करने के लिए चाहिए कि जब भी वे कोई वस्तु देखें या उसका अध्ययन करें तो उसे छूकर अच्छी तरह जान लें, ताकि वे उस ज्ञान को अपने चित्र में भी अंकित कर सकें ।

भाव और कल्पना

आधुनिक चित्रकारों द्वारा रचित अधिकांश चित्र देखकर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अब ऐसा चित्राङ्कन प्रारंभ कर दिया है, जिसके आधार-स्तम्भ केवल कुछ विचित्र भाव और कल्पनाएँ हैं। उन चित्रों को देखकर यह समझना कठिन हो जाता है कि उनमें प्रधान रूप में क्या चित्रित किया गया है। ऐसी स्थिति में लोग यह धारणा बना लेते हैं कि चित्रकार कुछ जानता नहीं, केवल वह हम लोगों को भ्रान्त करना चाहता है। पत्र-पत्रिकाओं में आज ऐसे अनेकों चित्र देखने को मिल रहे हैं। ऐसे चित्रों को हम काल्पनिक तथा मनोभावात्मक चित्र कह सकते हैं। इन सभी चित्रों में कल्पना का प्राधान्य रहता है। कभी-कभी तो इन चित्रों की कल्पनाएँ अलौकिक-सी ज्ञात होती हैं। चित्रकार कल्पना के पंखों से उड़कर एक ऐसे अलौकिक लोक में उतरता है, जहाँ वह भावस्रोत की मन्दाकिनी में डूबकर दिव्य तत्त्वों और तथ्यों को निकाल कर अभूतपूर्व नवीन सृष्टि का निर्माण करता है। आधुनिक चित्रकला भाव और कल्पना को मूर्तिमान् करने की कला है। कला-क्षेत्र में प्रकृति अनुकरण की जो धारा इतने दिनों से अजस्र-रूप से प्रवाहित हो रही है, वह उचित कल्पना और भाव के अभाव से आज सूख गयी है। कल्पनोत्पन्न भाव-हीन-कला निम्न स्तर की कला समझी जाती है।

भाव और कल्पना की महत्ता तथा उपयोगिता कला के प्रत्येक विद्यार्थी के अध्ययन का विषय होना चाहिए। चित्रकला का विद्यार्थी अपने जीवन का सम्पूर्ण समय प्रकृति-प्रदत्त असंख्य आकारों तथा उनके रचना-रहस्य को समझने तथा उनका यथार्थ चित्रण करने में लगाये, तो यह कार्य कदापि समाप्त न होगा और न उसे आत्म-संतुष्टि ही होगी। प्रकृति का यथार्थ चित्रण असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। प्रकृति का अनुकरण करना कला का उद्देश्य नहीं है। यदि हमें कला का विकास करना है, तो अपनी कल्पना की प्रखर प्रतिभा को पल्लवित करना होगा। तब हमें स्वतः सृजन का सामर्थ्य सुलभ हो जायगा, जिससे हमारी नवीन सृष्टि का श्रीगणेश होगा। इस नव अध्याय के खुलते ही हमारी कल्पना-शक्ति और उदात्त-भाव स्वयं विकसित हो उठेंगे।

चित्रकार पचासों कार्य-शैलियों का ज्ञाता होते हुए भी यदि मौलिक रचना नहीं कर सकता तो उसका सब ज्ञान व्यर्थ-सा ही है। कल्पना और भाव के धनी चित्रकार ही मौलिक रचना कर सकते हैं। कल्पना एक ऐसी शक्ति है जो मनुष्य को सृष्टि की ओर अग्रसर करती है। कल्पना से भाव उत्पन्न होते हैं और भावों से कला में प्राण संचारित हो जाते हैं।

कल्पना सुमन की सुवास है। कल्पना-शक्ति सभी मनुष्यों में रहती है, किसी में कम, किसी में अधिक। मानवीय उन्नति चाहे वह कला के क्षेत्र की हो, या दर्शन या साहित्य अथवा विज्ञान की हो, सब कल्पना-शक्ति पर ही निर्भर है। विद्यार्थी कभी-कभी प्रश्न करते हैं कि उनमें कल्पना-शक्ति है या नहीं? हम यह विश्वास के साथ कह सकते हैं कि उनमें कल्पना-शक्ति है और प्रचुर मात्रा में है, चाहे वह प्रत्यक्ष दिखाई न पड़े। यह संभव है कि उनकी शक्ति का दुरुपयोग किया गया हो, क्योंकि कल्पना-शक्ति रचनात्मक और ध्वंसात्मक दोनों ही हो सकती है, परन्तु उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं हो सकता।

प्रकृति से हमें अनेकों अनमोल उपहार मिले हैं, किन्तु उनके सर्वांगीण आनन्द और लाभ-प्राप्ति के लिए हमें उनका उपयोग करना सीखना चाहिए। हमारा मस्तिष्क तथा हमारी इन्द्रियाँ प्रकृति की अनुपम भेंट हैं। इनके सदुपयोग से ही हमारा पूर्ण विकास सम्भव है। शरीर के साथ-साथ हमारे मस्तिष्क का विकास होता रहता है, किन्तु उसकी गुप्त शक्तियाँ इतनी पर्याप्त मात्रा में हैं कि कोई भी महत्तम व्यक्ति उसे पूर्ण विकसित करने में समर्थ न हो सका।

मनुष्य की कल्पना में जैसी विभिन्नता होती है, वैसी ही भावों में भी देखी जाती है, जो उचित प्रयोग से विकसित होती रहती है। जैसे नित्यप्रति के व्यायाम के अभ्यास से हमारी शक्ति धीरे-धीरे बढ़कर एक दिन इस सीमा तक पहुँच जाती है जिसे देखकर हम चकित हो जाते हैं। यही बात हमारे भावों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। हमें अधिक या अल्प भावों से कार्यारम्भ कर देना चाहिए और निरन्तर खोज से उन्हें विकासोन्मुख करते रहना चाहिए। आप एक सामान्य भाव को लेकर उसमें अपनी पूरी शक्ति लगा दें। छोटे-से-छोटे भाव पर अच्छी तरह विचार करें और उसमें प्राप्त होनेवाले आनन्द का अनुभव करें। यही ऊँचे भावों तक पहुँचने का रहस्य है।

भाव और कल्पना को विकसित करने के लिए मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि वह स्वतः अनुभव और विश्वास करे कि उसमें कल्पना-शक्ति या भाव सन्निहित है, चाहे वह कितनी भी मात्रा में क्यों न हो। मनुष्य का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वह ऐसी धारणा उत्पन्न करे कि कल्पना-शक्ति बढ़ सकती है। उसका तीसरा काम यह है कि वह अपनी कल्पना-शक्ति को रचनात्मक कार्य में लगाये और उसका अन्तिम कर्त्तव्य यह है कि वह एक निश्चित योजना लेकर आगे बढ़े।

जब हम किसी वस्तु का निर्माण करना चाहते हैं तो हमें क्या बनाना है, इसका ठीक

उसी प्रकार से ज्ञान होना चाहिए जैसे कि निर्माण के लिए आवश्यक शस्त्रों तथा उसके प्रयोग के ढंग का ज्ञान आवश्यक है । इसी प्रकार से किसी कलाकृति में सर्वप्रथम सामग्रियों और शस्त्रों के प्रयोग में ज्ञानोपरांत प्रकाश और छाया के सिद्धान्तों के परिज्ञान के साथ वस्तुओं के बाह्य तत्त्व की अनुभूति और अंत में भाव और तदनुरूप भावाभिव्यक्ति करने की शक्ति होना परमावश्यक है ।

छाया और प्रकाश तथा वस्तु के बाह्य तत्त्व और प्रयोग के द्वारा हमें कल्पना को प्रकट करने का माध्यम मिल जाता है और हम अपने मस्तिष्क को सक्रिय बना लेते हैं । यह एक निश्चित बात है कि गम्भीर से गम्भीर भाव क्रियाशील मस्तिष्क में ही उत्पन्न हो सकते हैं ।

बहुत से लोग प्रायः यह प्रश्न पूछा करते हैं कि ये विचित्र चित्र क्यों बनाये जाते हैं ? जो कुछ हम देखते हैं उसे ही क्यों न चित्रित किया जाय ? हम एक कल्पित पेड़ या पशु की क्यों रचना करें, जब कि प्रकृति के असंख्य वृक्षों या पशुओं की अनुकृति बनायी जा सकती है ? इन प्रश्नों का उत्तर सीधा है । इस प्रकार के कार्य कल्पना को विकसित तथा उत्तेजित करने के लिए किये जाते हैं । इस प्रकार की रचना में हम संलग्न होकर आविष्कार करने, निर्माण करने तथा अपनी प्रतिभा और कुशलता का प्रयोग करने तथा अपने मस्तिष्क को कार्योन्मुख करने के लिए बाध्य हो जाते हैं । इस प्रकार नूतन तथा विचित्र वस्तुएँ उत्पन्न हो सकती हैं जिनमें मौलिकता सदा सन्निहित रहेगी, जो कलाकार की निजी रचना या सृष्टि होगी । एकमात्र यही मार्ग हमारी रचनात्मक प्रणाली के लिए संभव है, भले ही प्रारंभिक अवस्था में यह कार्यप्रणाली विशेष उपयोगी न जान पड़े । चित्रकार के रूप और आकार विशेष आकर्षक न प्रतीत हों, किन्तु अभ्यास द्वारा वह रूपों तथा आकारों को हृदय में उतार कर हाथों में कस लेगा और उनसे अपूर्व आनन्द-स्रोत की सुर-सरिता बहा देगा ।

कला ग्रौर हस्तकौशल

कला ग्रौर हस्तकौशल ये दो शब्द ऐसे हैं जिनका लोग प्रायः एक ही ग्रर्थ समझते हैं। बढ़ई के काम को भी जिसे हस्तकौशल कहना चाहिए, लोग कला कहते हैं ग्रौर चित्रकला को हस्तकौशल से सम्बोधित करते हैं। कला की वृहत् परिभाषा में किसी भी मानवीय सौष्ठव को कला कह सकते हैं, परन्तु सुविधा के लिए वह भी दो भागों में विभक्त की गयी है। एक को कला ग्रौर दूसरे को उपयोगी कला या हस्तकौशल के नाम से संबोधित करते हैं। परन्तु ग्राज कला ग्रौर हस्तकौशल दो भिन्न विषय समझे जाते हैं, क्योंकि दोनों की उपयोगिता में भिन्नता है। ग्रतः इन दोनों का भेद समझने के लिए हमें सर्वप्रथम हस्त-कौशल का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

हस्तकौशल में कार्यारम्भ के पूर्व शिल्पी को ज्ञात रहना चाहिए कि उसे क्या निर्माण करना है। एक बढ़ई को ज्ञात है कि उसे ग्राज एक कुर्सी (पीठासन) बनाना है। उस वस्तु के ग्राकार ग्रथवा स्वरूप का चित्र उसके हृदय में पूर्व ग्रभ्यास द्वारा ग्रंकित रहता है। उस वस्तु के परिमाण का भी परिज्ञान उसे रहता है ग्रौर वह ग्रपना कार्य ग्रारम्भ करता है। ऐसा कदापि संभव नहीं है कि कुर्सी बनाते-बनाते बढ़ई उसे पेज में परिणत कर दे। वह जानता है कि उसे क्या बनाना है ग्रौर वह वही बनाता है।

हस्तकौशल में सर्वप्रथम लक्ष्य ग्राता है। काम करते समय लक्ष्य का ध्यान रखते हुए वहाँ तक पहुँचने के लिए किन कार्य-प्रणालियों का योग लेना पड़ेगा शिल्पी सुविचार-पूर्वक प्रयोग करता जाता है। ग्रर्थात् काम करने की विधि पहले ग्राती है ग्रौर ग्रन्त में उसी से लक्ष्य की प्राप्ति भी हो जाती है हस्तकौशल सम्बन्धी काम की प्रस्तुत तथा ग्रप्र-स्तुत सामग्रियों में भी विभेद होता है। ग्रप्रस्तुत सामग्री, जैसे पेड़ की टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी, स्वर्णकार का सोना इत्यादि, शिल्पी हस्तकौशल का काम ऐसी ही किसी ग्रप्रस्तुत सामग्री को लेकर ग्रारम्भ करते हैं ग्रौर ग्रन्त में उसका स्वरूप कुछ ग्रौर हो जाता है। ग्रप्रस्तुत सामग्री जनित वस्तु उपयोगी वस्तु बन बैठती है। शिल्पी को प्रस्तुत वस्तु बनाने के पूर्व, ग्रप्रस्तुत वस्तु के संरक्षण की ग्रावश्यकता होती है।

हस्तकौशलोपयोगी सामग्रियों का एक अनिश्चित रूप और आकार होता है, जिसे शिल्पी सँवार कर एक निश्चित स्वरूप में जन्म देता है। यहाँ रूप और वस्तु का वैषम्य दर्शनीय है। अप्रस्तुत वस्तु जो पिंडाकार थी, उसे ढालकर लौहकार ने फावड़े या हथौड़े का रूप दे दिया।

हस्तकौशलों की एक विशेषता यह भी होती है कि वे सभी अन्योन्याश्रित होते हैं। कपास से एक व्यक्ति सूत कातता है, दूसरा वस्त्र बुनने का कार्य करता है। दर्जी उस वस्त्र को कोट के रूप में परिवर्तित कर देता है। उसके यहाँ बुनकर का वस्त्र, प्रस्तुत सामग्री, कोट में परिणत करने के लिए अप्रस्तुत सामग्री हो जाती है। इरा प्रकार सूत कातना, वस्त्र बुनना और वस्त्र सीने का काम ये सभी हस्तकौशल हैं और एक दूसरे से समाश्रित तथा संबंधित हैं। हस्तकौशल संबंधी अन्यान्य गवेषणात्मक विवेचन संभाव्य हैं, परन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि उपरिलिखित विचार यदि किसी हस्तकौशल के उपयुक्त नहीं है तो वह हस्तकौशल न होकर कुछ और है और संभव है वही कला हो।

हस्तकौशल के और भी प्रकार हो सकते हैं, जैसे बढ़ई या मोची का काम। इन सभी हस्तकौशलों का लक्ष्य काम में आनेवाली विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करना है। दूसरे कोटि का हस्तकौशल कृषि, उद्यान-सेवा इत्यादि है, जिनका लक्ष्य उत्पादन करना अथवा पालन-पोषण करना है जो हमें जीवनयापन में सहयोग प्रदान करते हैं। तृतीय कोटि का हस्तकौशल वैद्यक, शिक्षण या युद्ध-विद्यादि है––जिसका लक्ष्य मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक अवस्थाओं में एक प्रकार का परिवर्तन करना है। परन्तु इन सब में एक समानता है, सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। मनुष्य की मानसिक चेतनाएँ वस्तु की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्कण्ठित रहती हैं। मानसिक चेतनाओं और इच्छाओं की आवश्यकताओं के संकेत पर ही शिल्पी रचनाएँ करते हैं। अर्थात् मनुष्य की विभिन्न मानसिक अभिलाषाओं की पूर्ति करना ही शिल्पी का कार्य है। यदि कवि भी मनुष्य की मानसिक वृत्तियों की तृप्ति के निमित्त रचना करता है, तो उसकी कविता भी कलाकृति न होकर हस्तकौशल होगी। यदि सभी चित्रकार, मूर्तिकार, नृत्यकार तथा संगीतज्ञ मनुष्य की अभिलाषाओं की पूर्ति मात्र के लिए ही रचना करते हैं तो वे सब निस्सन्देह शिल्पी हैं।

प्रत्येक हस्तकौशल की एक स्वीय कार्य-प्रणाली होती है, जिसे बिना शिक्षा प्राप्त किये अथवा अभ्यास किये हुए अपनाना कठिन है। हस्तकौशल संबंधी शात्रों का उचित प्रयोग बिना अभ्यास के नहीं आ सकता। बढ़ई का काम कोई नहीं कर सकता, यदि वह रन्दा,

आरी, बसूला आदि चलाना नहीं जानता। कोई व्यक्ति चित्रकला का तब तक काम नहीं कर सकता जब तक वह तूलिका-संचालन, या रंगादि की विधियों से अभ्यस्त न हो। कविता करने से पूर्व शब्द-संयोजन करना आना ही चाहिए। प्रत्येक हस्तकौशल और कलाओं में कार्यप्रणाली का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है और वह उसका एक आवश्यक अंग है।

प्रायः कार्यप्रणाली का तात्पर्य हम एक नपी-तुली कार्यकुशलता ही समझते हैं। बसूला चलाने का एक अपना अलग ढंग है, कागज पर तूलिका घुमाने की एक विधि है, शब्दों को छन्दोबद्ध करने का एक नियम होता है, यह कुछ अंश तक सत्य है। रन्दे को यदि लकड़ी समतल करने के लिए चलाना है तो, उसे उलटा नहीं चलाया जा सकता और उसे एक विशेष ढंग से पकड़कर चलाना होगा। कागज पर तूलिका का प्रयोग एक विशेष ढंग से तूलिका के बालों को रंग में डुबा कर कागज पर करना होगा। इस प्रकार प्रत्येक हस्तकौशल और कलाओं में उनके उपकरणों के प्रयोग का निश्चित ढंग है, जिसे हम प्राथमिक कार्य-प्रणाली कह सकते हैं। इस प्राथमिक कार्य-प्रणाली की शिक्षा, ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को जो कला या हस्तकौशल का काम करना चाहते हैं, विद्यालय में गुरु की छत्रच्छाया में ही प्राप्त हो सकती है।

प्राथमिक कार्यकुशलता अथवा कार्य-प्रणाली से अवगत हो चुकने पर ही कोई कुशल शिल्पी अथवा कलाकार नहीं हो सकता; क्योंकि इससे तो कार्यारम्भ मात्र का ही ज्ञान हो पाता है। भवन की आधारशिला चुनने का कार्य यदि किसी व्यक्ति ने किया तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि पूरे भवन का निर्माण वही व्यक्ति कर लेगा जिसने आधारशिला का कार्यारम्भ किया है। भवन की आधारशिला के कार्य का तो ज्ञान होना ही चाहिए, परन्तु उसके ऊपर भी बहुत कुछ बनाना है। आधार-शिला की जो कार्यशैली थी, उससे अब भवन-निर्माण का कार्य नहीं हो सकता। पूरे भवन का क्या रूप होगा, इसको कल्पना करनी होगी और तदनुरूप अभिनव कार्यशैली का प्रादुर्भाव अपने अन्वेषण से करना होगा, तभी हम अपने प्रयत्न में सफल होंगे। प्राथमिक कार्यकुशलता (प्रणाली) से जब कोई शिल्पी अथवा कलाकार आगे उठकर कुछ नवीन अथवा मौलिक कल्पनाओं का समावेश अपनी कला में करने लग जाता है, तो उसे शैली के नाम से संबोधित करते हैं। कार्यप्रणाली जानना जितना आवश्यक है उससे भी अधिक आवश्यक है शैली-निर्माण करना। जिस हस्त-कौशल या कला में शैली का जितना अधिक या अल्प योग होगा वह हस्त-कौशल अथवा कला उतनी ही उच्च या निम्न कोटि की होगी।

किसी भी हस्त-कौशल या कला में कार्यप्रणाली और उसकी शैली दोनों ही नितान्त

आवश्यक हैं। कार्यप्रणाली शिक्षा के माध्यम से गृहीत हो सकती है, और शैली अनुकरण द्वारा सम्पूर्ण नहीं तो अंशतः अपनायी ही जा सकती है। परन्तु अनुकरणजन्य शैली से कला विकसित नहीं हो सकती। कला का विकास और कला की सफलता कलाकार के अभिनव शैली के प्रादुर्भाव पर निर्भर करता है। कार्यप्रणाली और शैली की प्रधानता होते हुए भी यह समझना कि कार्यप्रणाली और शैली ही कला है, एक बहुत बड़ी भूल होगी। ये तो कला के माध्यम हैं, जिनसे कला का निर्माण होता है।

हस्त-कौशल या दस्तकारी में तथा कला में सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर है भाव, कल्पना तथा नवीनता का। हस्त-कौशल में टेकनीक स्थिर रूप में प्रयुक्त होती है, परन्तु कला नयी टेकनीक उत्पन्न करती है, नये भाव तथा कल्पना की अभिव्यक्ति करती है।

चित्रकला और रूपकारी

चित्रकल में रूपकारी (डिजाइन) का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। रूपकारी का अर्थ है कल्पना से रचना करना। यह शब्द धीरे-धीरे भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में भी उसी अर्थ के साथ प्रयुक्त होने लगा है। चित्रकला में 'डिजाइन' से उस चित्र को सम्बोधित करते हैं, जिसमें कल्पना प्रधान है। हिन्दी में इस शब्द के स्थान पर परिकल्पना या बेल-बूटा बनाना ही प्रयोग किया जाता है, परन्तु इसका समानार्थी ठीक रूपकारी या बूटेकारी शब्द ही है। इसलिए हम आगे चलकर डिजाइन के अर्थ में रूपकारी या बूटेकारी शब्दों का ही प्रयोग करेंगे।

रूपकारी का अर्थ न तो परिकल्पना ही है और न बेलबूटा बनाना। चित्रकला में भी इसी प्रकार रूपकारी का अर्थ केवल बेलबूटा बनाना ही नहीं है, अपितु यह एक सारगर्भित अर्थ का द्योतक है। विचार करने पर ज्ञात होगा कि रूपकारी का अर्थ चित्रकला स्वयं है। जब भी हम रूपकारी शब्द का प्रयोग करते हैं तो मन में एक ऐसे चित्र की कल्पना होती है जिसमें चित्रकला के सभी नियमों, सिद्धान्तों और गुणों का समावेश किया गया है। किसी भी कला में कुछ ऐसे नियम या सिद्धान्त अवश्य होते हैं जिनका पालन करना नितान्त आवश्यक होता है। चित्रकला, संगीतकला, मूर्त्तिकला, काव्यकला या नृत्यकला में सबसे आवश्यक वस्तुएँ हैं—लय, छन्द, गति, सन्तुलन, पुनरावृत्ति, अनुपात, समानुपात, एकता, सुमेल, कल्पना, भाव, उद्वेग, व्यञ्जना और शैली के गुण। इन्हीं के समावेश से सौन्दर्य उत्पन्न होता है। रूपकारी में ये सभी वस्तुएँ आ जाती हैं। हम चित्रकला को रूपकारी भी कह सकते हैं।

रूपकारी का अर्थ आजकल चित्रकला में केवल बेलबूटा बनाना मात्र ही ग्रहण किया जाता है। यह एक संकुचित विचार है और रूपकारी का महत्त्व कम करना है। रूपकारी में कल्पना प्रधान है। रूपकारी सिखाने का मुख्य प्रयोजन यही है कि बच्चों तथा विद्यार्थियों की कल्पना-शक्ति का विकास हो सके और उनमें योजना करने की शक्ति आये। चित्रकला और प्रत्येक ललित-कला में कल्पना की प्रधानता होती है। कल्पना में ही

सभी गुण सन्निहित हैं । यदि कल्पना का पूरा विकास हो जाय तो अन्य सभी गुण चित्र-कला के विद्यार्थी में अपने आप आ जायेंगे । इसी उद्देश्य से रूपकला विद्यार्थियों के पाठ्य-क्रम में रखी गयी है और उसे सबसे अधिक महत्त्व देना चाहिए । परन्तु विद्यालयों में वस्तु-चित्रण (माडेल ड्राइंग) का ही अधिक अभ्यास कराया जा रहा है और रूपकला तो केवल बेलबूटा बनाना सिखाने के लिए पाठ्य-क्रम में रखी गयी है । इसीलिए वह अनि-वार्य भी नहीं है और यदि अनिवार्य है भी तो केवल बालिकाओं के लिए, क्योंकि संभवतः उनको कल्पना करने की अधिक आवश्यकता पड़ती है और लड़के तो जन्म से ही कल्पना-शक्ति लेकर आते हैं । यह बात भी नहीं है । संभवतः रूपकला का अर्थ, जैसा हम पीछे कह आये हैं, केवल बेलबूटे से ही लिया गया है और क्योंकि बालिकाओं को अपने ब्लाउज, फ्राक, साड़ी, इत्यादि पर बेलबूटा काढ़ने की अधिक आवश्यकता पड़ती है इसीलिए यह उपयोगी समझा गया है और उनके पाठ्य-क्रम में यह अनिवार्य है । मेरा अभिप्राय यहाँ किसी पर आक्षेप करने का नहीं है, वरन् केवल यह है कि चित्रकला में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को रूपकारी का महत्त्व भली-भाँति समझ लेना चाहिए ।

अंग्रेजी साहित्य में कभी-कभी रूपकारी डिजाइन का अर्थ इच्छा, दृष्टि और कल्पना तीनों होता है, जैसे किसी ने एक मंदिर बनाने की इच्छा की, कल्पना की, अपनी दृष्टि दौड़ायी या विचार करके एक योजना बनायी । इसी प्रकार रूपकारी में इच्छा, कल्पना, विचार, बुद्धि, विवेक, मनोभाव, उद्वेग, एकाग्रता, रुचि, रचना, अनुभव, भाव, अपने को व्यक्त करने की शक्ति, कार्यकुशलता, स्फूर्ति, कार्यारम्भ की शक्ति, योजना बनाने की शक्ति, इन सभी गुणों की वृद्धि होती है । इसलिए इसका अभ्यास प्रत्येक कला के विद्यार्थी के लिए नितान्त आवश्यक है ।

रूपकारी की प्रेरणा हमें प्रकृति के विविध रूपों तथा आकारों से मिलती है । प्रकृति की प्रत्येक वस्तु की रचना में हमें रूपकारी स्पष्ट दिखाई पड़ती है । मनुष्य को ही लीजिए । वह स्वयं ही एक रूपकला है । उसकी रचना में रूपकला के सभी गुण विद्यमान हैं । उसके मुख से ही आरम्भ कीजिए । एक कान दाहिने, एक कान बायें, एक ही आकार के और एक ही स्थान पर । नासिका के ऊपर दायें-बायें दो लोल-विलोल लोचन । उसके कुछ ही ऊपर एक ही प्रकार की धनुषाकार दो भौंहें । नासिका के सन्निकट निम्न भाग में युगल अधरोष्ठ कमलपत्र जैसे विकसित हो रहे हैं । दोनों कपोलों की समान आकृतियाँ और सिर कम्बु-ग्रीव पर सुन्दरता के साथ टिके हुए हैं । ग्रीवा के निम्न भाग में दोनों ओर के समान चौड़े कंधे और उनसे जुड़े हुए एक ही समान दो विशाल बाहु, एक ही समानुपात की दोनों हाथों की पाँचों उँगलियाँ और उसी अनुपात में दोनों जाँघें और दोनों चरण ।

शरीर का अंग-प्रत्यंग संतुलित, सुव्यवस्थित, सुडौल, सुदृढ़ और छंदमय है। इसी प्रकार पशु-पक्षी, पेड़-पौधे सभी की आकृतियाँ कलापूर्ण हैं। मोर के नीले, पीले, हरे, सुनहले पंखों और लचीली-ग्रीवा तथा मुकुट को देखिए और उसकी रूपकारी को देखिए। रंग-बिरंगी तितलियों, पक्षियों में रूपकला का दर्शन कीजिए। प्रत्येक में आपको एक अपनी भिन्न रूपकला का आभास होगा। किसी पौधे की शाखा पर दृष्टिपात कीजिए। उसमें भी रूपकला का क्रमिक इतिहास भरा है। एक पत्ती टहनी के दायें ओर से निकली है, तो दूसरी वैसे हीं बायें से। किसी भी फूल को लीजिए। उसकी पंखुड़ियों की बनावट, रूप, रंग सब में रूपकला के सभी गुण विद्यमान हैं। प्रकृति की सभी वस्तुओं में आप ये गुण पाइयेगा। प्रकृति कलामयी है और इसलिए प्रकृति कलाकार के लिए एक संचित सौन्दर्यकोष है। यही नहीं, प्रकृति कलाकार की गुरु भी है, जो उसे आजन्म कला का पाठ पढ़ाती रहती है। प्रकृति अपनी एक-एक वस्तु के अंग-प्रत्यंगों की रचना सोच-समझ कर भावमय और अभूतपूर्व ढंग से करती है। प्रकृति का रचना-सौष्ठव देखकर चकित होना पड़ता है और अन्त में कहना पड़ता है कि प्रकृति सब शास्त्रों की अधिष्ठात्री है।

वैसे तो प्रकृति के सभी रूप सूक्ष्म हैं, परन्तु मनुष्य ने उनका नामकरण कर लिया है। और उसी से वे उसे पहचानते हैं, जिसे हम अब सूक्ष्म कहना उचित नहीं समझते। वर्षा में उमड़ते बादलों को देखिए, उनमें नित नये-नये रूप बनते और बिगड़ते हैं, जिसका कोई नामकरण नहीं किया जा सकता। हमने उन रूपों को पहले कभी नहीं देखा, परन्तु वे दृश्य कितने मनोहर होते हैं और हमारे भीतर नाना प्रकार के भावों और मनोभावों का संचार करते हैं, जिसका कारण यही है कि उनमें भी रूपकला के सभी गुण विद्यमान हैं। पानी की लहरों, चट्टानों के कटे-फटे रूपों, तटिनी के शुष्क कूलों, कंगूरों, पवन से अस्त-व्यस्त की गयी बालुका के चिह्नों, वृक्षों की छालों और उनकी जटिल-जड़ों की झुरमुट में अनेकों प्रकार की सूक्ष्म रूपकलाएँ दिखाई पड़ती हैं, जिनसे चित्र-विद्यानुरागियों को प्रेरणा मिल सकती है। प्रकृति के नग्न-सौन्दर्य का कला के प्रत्येक विद्यार्थी को मनन और अध्ययन करना चाहिए और अपनी कलाकृतियों में उनका उपयोग करना चाहिए। यह शिक्षा अन्यत्र दुर्लभ है, कलामयी प्रकृति स्वयं एक महान गुरु है। प्रकृति की ये सूक्ष्म रूपकृतियाँ हमें प्रेरित करती हैं कि हम भी अपनी कल्पना से कलापूर्ण सूक्ष्म रूपकृतियाँ तथा भावमय चित्र निर्माण करें, क्योंकि कला के दर्शन वहीं पर हो पाते हैं।

यहाँ यह हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य हो जाता है कि हम प्रकृति का निरीक्षण करें और बुद्धि से उसके नियमों की खोज करें। यदि हम प्रकृति की रचना करने के नियमों को खोजने का प्रयत्न करें तो ज्ञात होगा कि उसमें एक सत्य छिपा हुआ है, जिसे जान लेने के

पश्चात् हम भी इसी प्रकार की रचना कर सकते हैं। प्रकृति के नियमों में पूरा गणितशास्त्र छिपा हुआ है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु की बनावट में एक भौमितीय सत्य या आधार है। यदि चित्रकार गणितशास्त्र से भी परिचित हो तो वह स्वयं इसका परीक्षण कर सकता है। संभवतः यही सत्य समझ कर पाश्चात्य प्रसिद्ध कलाकार माइकेल ऐंजेलो ने कहा था, वह कलाकार नहीं जो गणित शास्त्र नहीं जानता।" और लियोनार्डो डॉ० विसी भी इसी बात की पुष्टि करता है। इन कलाकारों की कृतियों में जो इतनी सुन्दरता आ सकी है इसका कारण यही है कि वे गणितशास्त्र के भी ज्ञाता थे। सामान्य कला-साधकों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे इस पक्ष का भी पूर्णरूपेण चित्रकला में ज्ञान प्राप्त करें, परन्तु उनको इतना तो अवश्य समझ लेना चाहिए कि रूपकला में सरल गणित के चिह्नों का प्रयोग क्यों और कैसे होता है। सर्वप्रथम रूपकला में आकार को रेखाओं तथा भौमितिक रूपों से कैसे विभक्त करना चाहिए और उन आकारों में किस प्रकार संतुलन तथा सुमेल के साथ अन्य रूपों को बैठाना चाहिए, यह जानना नितान्त आवश्यक है।

डिजाइन या रूपकारी सच कहा जाय तो कला का मुख्य तत्त्व है या उसकी आधार-शिला है। आधुनिक कला ने इस तथ्य को पूर्णरूपेण ग्रहण किया है और आज की कला का रूप स्वयं डिजाइन हो गया है।

द्वितीय भाग

आधुनिक कला की मुख्य प्रवृत्तियाँ

चित्रकला की तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ

बीसवीं शताब्दी में राजा रविवर्मा के पश्चात् चित्रकला का जो नया रूप सामने आया, वह डॉ० अवनीन्द्रनाथ के बंगाल स्कूल का स्वरूप था। १९४२ के आन्दोलन के पहले तक उसका काफी प्रचार रहा, यद्यपि अमृता शेरगिल तथा यामिनी राय की कला नें उससे काफी पहले कला के क्षेत्र में एक नया आन्दोलन खड़ा कर दिया था जिसका विकसित रूप अब देखने को मिल रहा है। उसके बाद भारतीय चित्रकला ने एक अजीब करवट ली। बंगाल-स्कूल का कला-स्रोत, श्री नन्दलाल बोस, क्षितीन्द्र मजूमदार, असित हाल्दर से होते हुए गोपाल घोष तथा पुलिन बिहारी दत्त तक पहुँचते-पहुँचते हिचकियाँ लेने लग गया। उसे अब और आगे नहीं घसीटा जा सकता था। जो भी हो भारतवर्ष के चारों कोनों में बंगाल स्कूल ने एक बार कला का प्रचार किया और इसका सारा श्रेय डॉ० अवनीन्द्र-नाथ ठाकुर और उनके सहयोगियों को निश्चित ही मिलना चाहिये।

अब परिस्थिति बिलकुल भिन्न है। प्रचार का कार्य तो भारत सरकार कर ही रही है, और वह होगा ही, परन्तु अब भारतीय चित्रकला को अपना एक सुडौल रूप धारण करना पड़ेगा। वह रूप कैसा हो, यही भारतीय आधुनिक चित्रकला की समस्या है। इसी समस्या के विभिन्न हल आधुनिक चित्रकला के विभिन्न रूप हैं। किसी देश या समय की कला उस देश या उस समय का प्रतिविम्ब होती है, या जैसा देश अथवा समय हो वैसी ही उसकी कला होती है। इस समय भारत की कला ही नहीं, सभी देशों की कला अपना एक सुडौल रूप निर्माण करने की योजना में व्यस्त है। क्या रूप होगा, कोई नहीं कह सकता उसी भाँति आधुनिक भारतीय चित्रकला का सुडौल रूप कैसा होगा, अभी कोई नहीं कह सकता। प्रत्येक आधुनिक चित्रकार को इसी नये रूप के निर्माण में लगना है और भार-तीय आधुनिक नव-चित्रकार इस कार्य में किसी से पीछे नहीं दिखाई पड़ रहे हैं, यद्यपि अड़चनें अनेक हैं।

आधुनिक युग में चित्रकला के अनेक रूप हो गये हैं। बीसवीं शताब्दी के पहले भी ऐसे अनेक रूप चित्रकला में खोजने पर प्राप्त होते हैं, परन्तु एक साथ एक ही समय में कला

के इतने रूप बहुत कम देखने को मिलते हैं। भारत की सम्पूर्ण मुगलकालीन कला का रूप एक ही ढाँचे में ढला प्रतीत होता है। कहीं-कहीं थोड़ा अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है, परन्तु उसको हम विभिन्न रूप नहीं कह सकते। मुगलकालीन चित्र देखते ही यह ज्ञात हो जाता है कि वह किस समय का होगा। इसी प्रकार बौद्ध, जैन, ब्राह्मण सभी कलाएँ एक साँचे में ढली प्रतीत होती हैं। यह बात आधुनिक कला के बारे में सत्य नहीं ठहरायी जा सकती। बीसवीं शताब्दी के अट्ठावन वर्षों में कला के अनेक रूप बने और बनते जा रहे हैं। भारत के अन्य प्राचीन कालों में शायद भारतीयों का सम्बन्ध संसार की और सभ्यताओं से इतना नहीं था जितना इस सदी में धीरे-धीरे होता जा रहा है, इसलिए भारतीय संस्कृति और कला दोनों पर उनका प्रभाव पूर्ण रूप से पड़ रहा है। प्राचीन काल में सुविधाओं की कमी के कारण य सम्पर्क इतना नहीं था और उस समय की कला पर संसार के अन्य देशों का प्रभाव उतना नहीं था। यदि आज ऐसी सुविधा है कि एक देश की सभ्यता और कला पर अन्य देशों का प्रभाव पड़े तो यह अनुचित नहीं है, बल्कि आवश्यक है। सभ्यता का विकास आदान-प्रदान पर आधारित है। चित्रकला के क्षेत्र में या और किसी भी कला अथवा विज्ञान में प्रायः प्रत्येक सभ्य देश में एक ही प्रकार की धाराएँ चल रही हैं। यही कारण है कि चित्रकला के क्षेत्र में नित्य नयी-नयी धाराएँ आ रही हैं।

इन सभी रूपों का तथा प्राचीन चित्रकला के रूपों का भली-भाँति विश्लेषण करने पर हमें तीन धाराएँ मुख्य जान पड़ती हैं। आलंकारिक रूप, विषय-प्रधान रूप तथा सूक्ष्म रूप। या हम उन्हें तीन प्रकार के चित्र कह सकते हैं—आलंकारिक चित्र, विषय-प्रधान चित्र और सूक्ष्म चित्र। इन तीनों प्रकार के चित्रों में किसका स्थान सबसे ऊँचा है, यह निर्धारित करना कठिन है, क्योंकि ये तीनों प्रकार के चित्र हर देश और काल में पाये जाते हैं। कभी किसी का प्रचार अधिक रहा, कभी किसी का। आधुनिक यूरप में सूक्ष्म चित्र अधिक प्रचलित है। आधुनिक भारत में विषय-प्रधान चित्र का अभी तक प्रचार रहा है, परन्तु दृष्टिकोण सूक्ष्म होता जा रहा है। आलंकारिक चित्र इस समय कम बन रहे हैं।

आलंकारिक प्रवृत्ति

जिस समय देश धन-धान्य से सम्पन्न और आनन्दमय होता है, उस समय वहाँ की कला तथा जीवन दोनों में अलंकार का महत्त्व सबसे अधिक होता है। अलंकार का प्राण लय, छन्द, गति, सन्तुलन तथा ताल होता है। जिस समय नदी जल-राशि से परिपूर्ण होकर छन्द-गति से कल-कल करती हुई प्रवाहित होती है, दर्शक अवाक् रह जाता है और उसी लय के प्रवाह के साथ स्वयं भी अपने को बहता हुआ पाता है। उससे आनन्द मिलता है,

सन्तुष्टि प्राप्त होती है । भारतवर्ष के इतिहास में जब-जब ऐसा समय आया है यहाँ की कला में अलंकार की मात्रा बढ़ी है । गुप्त काल की मूर्ति-कला तथा चित्रकला दोनों में अलंकार प्रधान हैं । मुगल कालीन चित्रों का तो अलंकार प्राण ही था । इस समय के चित्रों से अगर अलंकार हटा दिया जाय तो शायद वे चित्र बहुत निम्नकोटि के ठहरेंगे ।

आलंकारिक चित्र इस समय अधिक नहीं मिलते । भारतीय विख्यात चित्रकारों में से बहुत कम ऐसे हैं जिन्होंने इस प्रकार के चित्र बनाये हों । इसका कारण यही है कि इस प्रकार के चित्रों के निर्माण का अभी युग ही नहीं है । इसका यह तात्पर्य नहीं कि ऐसे चित्र लोगों को रुचिकर नहीं लगते प्रत्युत उनके पास इतना समय नहीं है कि ऐसे चित्र बना सकें, न उनकी मनःस्थिति ही ऐसी है । इधर के चित्रकारों में यामिनी राय, राचशु तथा अल्मेल्कर के कुछ चित्र आलकारिक कहे जा सकते हैं । यामिनी राय के चित्र अपनी आलंकारिकता से अधिक व्यक्त होते हैं । इनका 'तुलसी पूजन' आलंकारिक कोटि का एक सफल चित्र कहा जा सकता है । अल्मेल्कर के चित्रों में अलंकार नृत्य तथा संगीत के लय का स्वरूप लिये हुए मिलता है । यही बात उनके रंगों के सम्मिश्रण में भी पायी जाती है । इसकी पुष्टि हम उनके 'ग्राम्यजीवन' वाले चित्रों से कर सकते हैं । राचशु के अधिकांश चित्रों में सूक्ष्म अलंकरण, रेखाओं के रूप में बहुत कुशलता से व्यक्त होते हैं । इनके चित्रों पर मुगल तथा राजपूत अलंकरण पद्धति की पर्याप्त छाप है । इनकी "सरस्वती" इन्हीं पद्धतियों से निर्मित एक कलाकृति है । भारत की ग्राम्य-कला आज भी अलंकार-प्रधान है, तथापि विषय-सौन्दर्य की भी एक निराली झाँकी रहती है ।

विषयात्मक प्रवृत्ति

वे सभी चित्र जिनमें आलेख्य रूपों तथा भावों को चित्र-बद्ध कर पहचानते हैं, विषय-प्रधान चित्र कहलाते हैं । संसार में आदिकाल से ही विषयप्रधान चित्रों का आलेखन पर्याप्त मात्रा में मिलता है । विषयप्रधान चित्र में अधिकतर चित्रकार प्रकृति के स्वरूपों को किंवा उससे सम्बन्धित भावों को ही स्थान देता है—किसी प्राकृतिक दृश्य का चित्र, जिसमें पृथ्वी, आकाश, जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, नदी-पहाड़, झरने आदि के मध्य खड़े चित्रित व्यक्ति अथवा एक व्यक्ति ही चित्रित हो, जैसे एक यात्री का चित्र या अभिसारिका का चित्र । इस प्रकार के चित्र विषयप्रधान चित्र ही कहलायेंगे । इसी प्रकार प्रकृति के अन्य वस्तुओं के चित्र विभिन्न परिस्थितियों के भी बनाये जा सकते हैं, जिनमें कोई भाव या कोई दर्शन छिपा हो । भारतीय चित्रकला में सरस्वती की चार भुजाएँ या विष्णु के चार हाथ और उनके विभिन्न रंगों का आलेखन प्राप्त होता है । सरस्वती के चार हाथों में—एक में

पुस्तक, दूसरे में वीणा, तीसरे में कमल का पुष्प और चौथे में माला अंकित है। यहाँ ये चारों हाथ सरस्वती की चार शक्तियों के द्योतक हैं। श्वेत वर्ण उनके ज्ञान का द्योतक है। इसी प्रकार विष्णु के चारों हाथ और श्याम रंग उनकी शक्तियों और प्रवृत्ति के द्योतक हैं। इस तरह प्रकृति के ही रूपों द्वारा चित्र में चित्रकार कोई भाव भर सकता है। इस प्रकार के चित्र भी विषयप्रधान चित्र कहलाते हैं। विषयप्रधान चित्र संसार के चित्रकारों का सर्वाधिक प्रिय विषय रहा है। भारतीय विषयप्रधान चित्रों में प्रायः कोई न कोई भाव अवश्य मिलता है, परन्तु पाश्चात्य देशों में अधिकतर वस्तुओं के प्राकृतिक रूप को ही विभिन्न ढंगों से बनाया गया है। अजन्ता, राजपूत, मुगल, जैन, तथा पहाड़ी कलाएँ सभी विषय-प्रधान चित्रों की श्रेणी में आती हैं। ऋतुओं के चित्र, रसों के चित्र, राग-रागिनियों के चित्र, इत्यादि भी विषयप्रधान चित्र के अन्तर्गत हैं।

विषयप्रधान चित्र बनाने से पहले चित्रकार यह भली-भाँति सोच लेता है कि वह किसका चित्र, किसका प्रतिरूप बनाने जा रहा है। यह जानता है कि उसे वृक्ष बनाना है, मनुष्य का रूप बनाना है, या ईश्वर का रूप बनाना है। परमात्मा तो सूक्ष्म है, उसका चित्र बनाना तो सूक्ष्म चित्र बनाना कहा जा सकता है, परन्तु यह भी विषयप्रधान चित्र है और इसमें भी परमात्मा पहले आ जाता है, फिर उसका चित्र। परमात्मा या देवी-देवताओं के रूपों को भी मनुष्य का-सा रूप दे दिया गया है, जिसमें उनके चित्र बन सकें। जहाँ भी चित्र बनाने से पहले चित्रकार के मन में कोई भाव या वस्तु आती है, उसी भाव या वस्तु का प्रतिरूप चित्र होता है और चित्र विषयप्रधान हो जाता है।

इस प्रकार विचार करने से तो यह कहा जा सकता है कि चित्र विषयप्रधान ही हो सकता है और उसमें कोई दूसरा प्रकार नहीं हो सकता, क्योंकि जितने भी चित्र बनते हैं उनमें चित्रकार किसी न किसी वस्तु या भाव का रूप अवश्य बनाता है। इसीलिए आदि-काल से बीसवीं शताब्दी तक अधिकतर चित्र विषयप्रधान ही बने और आज भी बन रहे हैं। हम जो देखते हैं, जो सोचते हैं, उसीका चित्र बनाते हैं। इसके अतिरिक्त हम अन्य क्या कर सकते हैं? परन्तु आधुनिक चित्रकार इस प्रकार के चित्र बनाते-बनाते एक ऐसी स्थिति में पहुँचा है जहाँ उसे एक दूसरे ही प्रकार का भाव उत्पन्न हुआ है—जिसे नव-निर्माण कहते हैं। इसी का परिणाम सूक्ष्म कला है।

सूक्ष्म प्रवृत्ति

निर्माण और पुनर्निर्माण में अन्तर है। पुनर्निर्माण उस स्थिति को कहते हैं जहाँ हम उन वस्तुओं का निर्माण करते हैं जो पहले भी निर्माण की जा चुकी हैं, अर्थात् जिनका निर्माण

ईश्वर या प्रकृति ने किया है। परन्तु निर्माण का अर्थ पुर्नानर्माण नहीं है। निर्माण का तात्पर्य यह है कि चित्रकार प्रकृति की भाँति स्वयं अदृष्ट वस्तुओं का निर्माण करे। अर्थात् कल्पना के आधार पर नये स्वरूप बनाये। इस प्रकार के चित्र को हम सूक्ष्म चित्र कहते हैं। यह आधुनिक युग की एक देन है।

ऐसे चित्रों में जो रूप बने हुए होते हैं वे किसी दूसरी वस्तु के या भाव के प्रतिरूप नहीं होते, अर्थात् वे किसी वस्तु के रूप नहीं हैं, न वे पहचाने जा सकते हैं और न उनका नामकरण ही हो सकता है। इस प्रकार के चित्र को अप्रतिरूपक चित्र कह सकते हैं। इनका आधार केवल मनुष्य की सहज रचनात्मक प्रवृत्ति होती है। किसी वस्तु का पुर्नानर्माण नहीं, बल्कि सूक्ष्म, अज्ञात, अदृष्ट का निर्माण। वायु का कोई रूप नहीं दिखाई पड़ता, परन्तु यदि उसे भी चित्रित किया जाय तो एक प्रकार का सूक्ष्म चित्र होगा, यद्यपि शुद्ध सूक्ष्म चित्र फिर भी न होगा, क्योंकि वायु एक ज्ञात वस्तु है, उसकी कल्पना हम पहले ही कर चुके हैं और उसी के आधार पर चित्र बनेगा।

सूक्ष्म चित्र बन जाने पर यदि हम उसका विश्लेषण करें तो उसमें कुछ गुण ऐसे दृष्टि-गोचर हो सकते हैं जैसे उनके परस्पर की प्रतिकृति स्वरूप में सम्बन्धित आकार, व्यवस्था, वास्तुरूप, लय, छन्द, सन्तुलन, गति इत्यादि। इस प्रकार के सूक्ष्म चित्र एक प्रकार के ज्यामितिक स्वरूप कहे जा सकते हैं। सूक्ष्म चित्रकला में केवल सूक्ष्म रूप, रंग तथा रेखाओं का संयोजन होता है। यह रूप, रेखा या रंग किसी और रूप या भाव के द्योतक नहीं होते। यह कोई अभिव्यक्ति भी नहीं करते। जिस प्रकार वर्षा ऋतु में उमड़ते-घुमड़ते बादलों में नाना प्रकार के रूप बनते-बिगड़ते रहते हैं, उसी प्रकार चित्रकार अपने चित्र में रूप, रंग तथा रेखाओं के सम्मिश्रण से विचित्र रूप बनाते हैं, जिनका कोई तात्पर्य नहीं रहता। ऐसे चित्र बनाने में चित्रकार की रुचि क्यों लगती है, इसका उत्तर केवल यही है कि उसके लिए रूप, रेखा तथा रंग खेलने के सामान हैं। उनसे वह खेलता है। जिस प्रकार वर्ष, डेढ़ वर्ष का बालक कभी पेन्सिल पा जाता है तो उसे कागज पर गोदता है और क्रीड़ा का आनन्द लेता है। वह कुछ सोचकर, किसी वस्तु का चित्र नहीं बनाता, बल्कि रंग से खेलता है, वह यह भी नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है। उसी भाँति आधुनिक सूक्ष्म चित्रकार रंगों, रूपों तथा रेखाओं से खेलता है, उसका कोई तात्पर्य नहीं होता। बालक केवल हाथ में पेन्सिल लेकर इधर-उधर चलाता है, उसी प्रकार चित्रकार भी करता है। विश्वविख्यात आधुनिक चित्रकार पिकासो ने स्वयं एक बार कहा है—

"मैं आरम्भ से ही नहीं जानता कि मैं क्या चित्रित करने जा रहा हूँ, उसी तरह जैसे मैं

यह नहीं जानता कि चित्र में कौन-से रंग प्रयोग करूँगा । काम करते समय मैं इसकी परवाह नहीं करता कि मैं क्या चित्रित कर रहा हूँ । जब-जब मैं चित्र आरम्भ करता हूँ, मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं अपने को एक गहरे अंधकार में फेंक रहा हूँ ।"

आधुनिक कला के आलोचक कभी-कभी यही आरोप करते हैं कि ये चित्रकार केवल बालकों की भाँति चित्र बनाते हैं, उनमें कोई कार्य-कुशलता नहीं होती । यह आरोप आधुनिक चित्रकार बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार करते हैं और कहते हैं, कि हाँ, यदि हम बालक की भाँति ही सोच सकते और चित्र बना सकते तो कितना अच्छा होता । शायद जीवन में बाल्यकाल में मनुष्य जितना सुखी रहता है उतना फिर कभी नहीं हो पाता । बालक का हृदय जितना पवित्र और निर्मल होता है वैसा यदि कलाकार का हृदय हो तो उससे अधिक श्रेयस्कर वस्तु और क्या हो सकती है ?

इसलिए हम कह सकते हैं कि आधुनिक चित्रकार सूक्ष्म चित्र बनाकर वैसा ही आनन्द लेते हैं जैसे बालक अपने जीवन में । इस प्रकार के चित्रों का महत्त्व जितना कलाकार के लिए है, उतना दर्शक के लिए शायद नहीं । परन्तु यदि दर्शक बालक के चित्रों में या उनके कार्यों में आनन्द पा सकते हैं तो निश्चय ही इस प्रकार के चित्रों में भी आनन्द पा सकते हैं, यदि स्नेह से इन चित्रकारों के कार्यों का मूल्यांकन करें ।

जिस प्रकार लीलात्मा परब्रह्म "एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय", मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, का विचार करता है और सृष्टि कर क्रीड़ा का आनन्द लेता है, उसी प्रकार कलाकार सूक्ष्म रूपों को बनाकर उस कार्य में आनन्द लेता है । जिस प्रकार सृष्टि के रूप किसी के प्रतिरूप नहीं हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म चित्रों का भी ध्येय है । इस प्रकार की सूक्ष्म चित्रकला चित्रकार के आनन्द लेने का एक साधन मात्र है, और यही आनन्द दर्शक भी पा सकता है, यदि उसको भी सूक्ष्म स्वरूपों के संयोजन का ज्ञान हो ।

इस प्रकार के चित्र बनाकर सभी व्यक्तियों को आनन्द मिल सके या इस प्रकार के चित्रों को देखकर सभी दर्शकों को आनन्द मिले, यह भी संभव नहीं । यह एक प्रकार की मानसिक स्थिति होती है, जहाँ पहुँचकर ही मनुष्य ऐसी कृति में आनन्द ले सकता है । जिसको सचमुच आनन्द आता है, वही इस प्रकार के चित्रों की रचना कर सकता है । जिस चित्रकार की मानसिक स्थिति इस प्रकार की नहीं है वह इस प्रकार की चित्र-रचना में कभी संलग्न नहीं हो सकता । यदि इस स्थिति को हम मनुष्य की वह स्थिति कहें जहाँ मनुष्य अपने मस्तिष्क को एकाग्र कर शून्य कर लेता है जैसे योगी, तो अतिशयोक्ति न

होगी। ऐसे योगी संसार में बहुत कम होते हैं। इसलिए यदि यह कहा जाय कि सूक्ष्म चित्रकला में प्रविष्ट होना प्रत्येक मनुष्य या कलाकार के लिए असम्भव है, तो मिथ्या न होगा। बीसवीं सदी में पिकासो की देखा-देखी यूरोप में इस कला के बहुत से अनुयायी हो गये हैं, शायद आवश्यकता से अधिक, परन्तु उन सभी की वही मानसिक स्थिति हो जैसी पिकासो की, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

भारत में इस सूक्ष्म चित्रकला में विश्वास करने वाले कुछ इने-गिने चित्रकार ही हैं। इस दिशा में प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रवीन्द्रनाथ देव तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रामचन्द्र शुक्ल विशेषकर उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के कुछ चित्र स्वर्गीय डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने भी बनाये थे। सन् १९६३ पहुँचते-पहुँचते सूक्ष्म चित्रांकन का प्रादुर्भाव काफी हो गया है। ललितकला अकादमी दिल्ली की वार्षिक प्रदर्शनियों में निरन्तर सूक्ष्म चित्र ज्यादा दिखाई पड़ रहे हैं। बहुत से पुराने चित्रकार भी इस ओर आकृष्ट हुए हैं। ऐसे चित्रकारों में बेन्द्रे का नाम उल्लेखनीय है।

सरलता की प्रवृत्ति

चित्र-कला का इतिहास भारतीय पौराणिक ग्रंथों के अनुसार अति प्राचीन है। परन्तु यदि हम उतना पीछे न भी जायँ तो भी चित्रकला प्रागैतिहासिक काल में तो निश्चित ही थी। उसके कुछ उदाहरण आज भी प्राचीन कन्दराओं की भित्तियों पर अंकित युगों से चमक रहे हैं। ये उस समय के चित्र हैं जब संसार के मनुष्य जंगली जानवरों की भाँति केवल अपने भोजन का सामान जुटाते हुए नंगे घूमा करते थे। संसार के इतिहास में चित्रकला का सबसे प्राचीन उदाहरण ऊपरी पैलियोलिथिक काल में मिलता है। उनका निश्चित समय तो अभी तक नहीं मालूम हुआ है, परन्तु अनुमान लगाया जाता है कि २०,००० और १०,००० बी० सी० के लगभग होगा। भारत में भी पाषाण-युग के चित्रकला के उदाहरण मिलते हैं। उस समय की संस्कृति को हम जंगलीपन ही कहते हैं और समझते हैं। पर उन जंगलियों को भी कला (चित्रकला) के प्रति रुचि थी। उसका उपयोग उनके लिए भी था। कला का उनके जीवन में क्या उपयोग था, यह विचारणीय प्रश्न है।

अपने को व्यक्त करने की प्रवृत्ति जानवरों में आज भी पायी जाती है। वे अपने हाव-भाव से, व्यवहार से, बोलियों से, अपने को व्यक्त करते हैं। यदि हम उन आदिम-निवासियों को जंगली कहें और उन्हें जानवरों की श्रेणी में गिनें तो भी यह तो मानना ही पड़ता है कि इन्हीं जानवरों की भाँति उन्हें भी अपने को व्यक्त करने की आवश्यकता रही होगी। हम यह मानते हैं कि चित्रकला के द्वारा हम अपने भावों को व्यक्त करते हैं, तो यह भी बिलकुल निर्विवाद है कि उन वनवासियों को भी अपने को व्यक्त करने की प्रवृत्ति ने ही कला की ओर प्रेरित किया होगा। भाषा की उत्पत्ति भी इसी प्रकार हुई और प्रागैतिहासिक चित्रकला देखने में लिपि की भाँति ही प्रतीत होती है। जिस प्रकार लिपि प्रतीकों के द्वारा भाव व्यक्त करती है, उसी प्रकार प्रागैतिहासिक चित्र भी प्रतीकों द्वारा व्यक्त किये गये जान पड़ते हैं। पाषाण-युग में मनुष्य के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या भोजन, और प्राकृतिक आक्रमणों तथा आपसी आक्रमणों से बचाव की थी। यही समस्याएँ हर समय उनको घेरे रहती थीं। इन्हीं समस्याओं को या इनके हल को ही वे अवकाश के समय सोचते और चित्रित करते थे।

आदिकाल में जब मनुष्य वनों में रहता था और भाषा की उत्पत्ति नहीं हुई थी, उस समय भी उसके सम्मुख अपने को व्यक्त करने की समस्या रही होगी। सबसे पुरानी लिपि के जो उदाहरण हमें आज भी मिलते हैं वे हैं इजिप्शियन हीरोग्लिफ्स और चाइनीज़ कैरेक्टर्स। लिपियों में वस्तुओं को उनके लाक्षणिक रूप से ही व्यक्त किया जाता था।

उदाहरण—
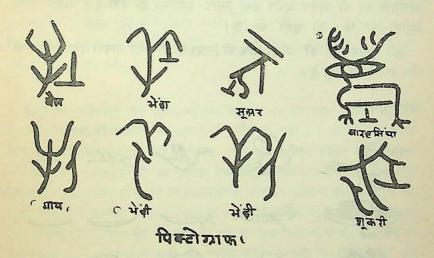
पिक्टोग्राफ।

इस प्रकार की लिपि को पिक्टोग्राफ्स कहते हैं। चीन, जापान, की लिपि कुछ परिमार्जित रूप में आज भी ऐसी है। इन पिक्टोग्राफ्स में समय के कारण बहुत परिवर्तन हो गये हैं और यह पता चल नहीं पाता कि ये किसके चित्र हैं। धीरे-धीरे ये लाक्षणिक पिक्टोग्राफ्स बहुत ही सूक्ष्म होते गये और उनका रूप, वर्णों, स्वरों और शब्दों में परिवर्तित हो गया। इस प्रकार अब चित्रों द्वारा भाव व्यक्त करने के स्थान पर शब्दों द्वारा व्यक्त किये जाते हैं और यही माध्यम साहित्य कहलाता है।

पिक्टोग्राफ्स की भाषा में यह परिवर्तन क्यों हुआ, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसका पहला कारण तो यह है कि शायद इसके द्वारा मनुष्य के सभी भाव सरलता से व्यक्त नहीं हो पाते थे—मुख्यतः सूक्ष्म भाव। इससे तो वही भाव सरलता से व्यक्त किये जा सकते थे जिनको आँखों से भी देखा जा सकता था। सुगन्ध, वायु तथा कल्पना इत्यादि भाव,

जिनका कोई निश्चित -सा दीख पड़नेवाला रूप नहीं है, पिक्टोग्राफ में कैसे व्यक्त किये जा सकते हैं ? आदि-काल में जब मनुष्य और उसका वातावरण, उसकी कल्पनाएँ सूक्ष्म थीं, केवल आस-पास की नित्यप्रति काम आनेवाली वस्तुएँ ही उसके सम्मुख थीं—वह पिक्टोग्राफ के द्वारा अपने इन भावों को व्यक्त कर लेता था। परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य के मस्तिष्क का विकास हुआ, उसकी भावनाएँ, समस्याएँ जटिल तथा सूक्ष्म होती गयीं, उनको पिक्टोग्राफ में व्यक्त करना कठिन हो गया। आज का युग तो इतना जटिल होता जा रहा है कि भाषा से भी सुगम ढंग निकालने की आवश्यकता पड़ रही है, और संकेत स्वरलिपि का भी अधिक प्रचार तथा प्रसार इसीलिए हो गया है। संकेत लिपि-प्रणाली का और भी सूक्ष्म रूप है।

इसी प्रकार पहले की अपेक्षा आज की चित्रकला धीरे-धीरे सादगी तथा सूक्ष्मता की ओर वेग से बढ़ रही है।

उदाहरण—

स्वाभाविक से सूक्ष्म की ओर
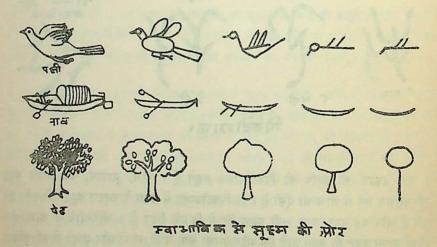
आदि निवासियों के मस्तिष्क का अधिक विकास नहीं हो पाया था, इसलिए वे किसी वस्तु को चित्रित करने में उसे प्राकृतिक रूप नहीं दे पाते थे और उसे सूक्ष्म लाक्षणिक ढंग से ही व्यक्त कर पाते थे जैसे पेड़, परन्तु धीरे-धीरे चित्रकला ने अति प्राकृतिक रूप (पेड़ संख्या १) धारण कर लिया। यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी तक प्राकृतिक रूपों में भावों को व्यक्त करने का बहुत प्रचार हुआ। परन्तु उसके बाद प्रगति फिर पीछे की ओर लौटी और बीसवीं शताब्दी में कला अधिकांशतः फिर सूक्ष्म हो गयी है।

कला के इतिहास में हम जितना पीछे जाते हैं, कला का रूप उतना ही सरल और सूक्ष्म दिखाई पड़ता है। सन् १९२० ई० में पंजाब में हरप्पा की खोदाई तथा सिन्ध में मोहनजोदड़ो की खोदाई में टूटे-फूटे बर्तनों के ऊपर बने जो चित्र तथा चित्रकारियाँ मिली हैं, उन्हें देखने से उपर्युक्त कथन की सत्यता और भी पक्की हो जाती है। उन चित्रों में पाये जाने वाले रूप बहुत ही सरल तथा सूक्ष्म हैं। अधिकतर सरल रेखाओं तथा छाया-चित्र के द्वारा ही निर्मित रूप दिखाई पड़ते हैं। वस्तुओं के रूप कम से कम रेखाओं में पूर्णतः प्रारम्भिक रूप में ही दिखाई पड़ते हैं, फिर भी बड़ी आसानी से उनको पहचाना जा सकता है। वस्तुओं का रूप इतना सरल और सूक्ष्म है कि उसमें केवल वे ही वस्तुएँ दिखायी गयी हैं जिन्हें कोई भी पहचान सकता है। रूप को जरा भी मिश्रित नहीं होने दिया गया है, यद्यपि फिर भी वे रूप अपना भाव पूरी तरह व्यक्त करते हैं। यही कला की शुद्ध भाषा का ध्येय है।

आधुनिक मशीन-युग तक पहुँचते-पहुँचते चित्रकला का रूप बहुत मिश्रित हो गया है और उन रूपों को आसानी से पहचानना कठिन हो गया है। इसीलिए आधुनिक कला से सारा समाज आनन्द नहीं ले पाता, परन्तु कुछ चुने हुए व्यक्ति ही, जिनका मस्तिष्क मिश्रित वस्तुओं को भी पहचान सकता है, उसका आनन्द ले पाते हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि चित्रकला की परिभाषा फिर से प्रारम्भ हो, अर्थात् जिस भांति अति प्राचीन काल में चित्रकला का जो कुछ रूप था, उसी प्रकार कारूप फिर प्रारम्भ हो। पाषाण-युग में मनुष्य का मस्तिष्क सरल और सादा था, वह सोच भी नहीं सकता था, इसलिए अपने भावों को व्यक्त करने के लिए वह केवल सरल रूप ही बना पाता था। किन्तु आज मनुष्य का मस्तिष्क इतना जटिल और व्यस्त हो गया है कि उसमें सादगी की आवश्यकता है। सादगी का यह तात्पर्य नहीं कि कला प्राकृतिक हो। इसे सादगी नहीं कह सकते। प्रकृति का रूप तो स्वयं इतना जटिल है कि विज्ञान के सहस्र आविष्कार के पश्चात् भी उसका रहस्य मनुष्य की बुद्धि के परे है। मनुष्य समझता था कि विज्ञान के बल वह सृष्टि या प्रकृति पर विजय पा लेगा, किन्तु जितना ही वह इस चक्कर में पड़ता है उतनी ही उसकी समस्या जटिल होती जा रही है और यही विज्ञान आज मनुष्य के मस्तिष्क की जटिलता का कारण है।

यही बात अब बहुत से विख्यात आधुनिक वैज्ञानिक भी मानते हैं कि सारी सृष्टि की वस्तुओं के रहस्य को समझना शायद मनुष्य की शक्ति के परे है। केवल एटम बम के आविष्कार ने मनुष्य की स्थिति को डाँवाडोल कर दिया है, सारी राजनीति जटिल हो

गयी है। इसी से हम भविष्य का विचार कर सकते हैं। जितना हम सृष्टि के रहस्य का उद्घाटन करेंगे, उसका प्रकोप उतने ही वेग से समाज पर पड़ेगा। शायद इसीलिए प्राचीन मनुष्य प्रकृति की पूजा करता था और उसकी जटिलता तथा रहस्य के प्रपंच में नहीं पड़ता था। प्राचीन विद्वानों ने इसीलिए सृष्टि को या ईश्वर को अगम कहा है और यह भी कहा है कि इसे बुद्धि से नहीं, प्रेम तथा भक्ति से समझा जा सकता है। आज भी ग्रामीण प्रकृति का पूजन करता है, प्रकृति का प्रतिस्पर्धी या दुश्मन नहीं बनता, अपितु प्रकृति के साथ चलने का प्रयास करता है। हिम-मण्डित पर्वतों पर भी मनुष्य रहता है। सूर्य की तीव्र धूप भी सहन कर लेता है, फिर भी हिमालय तथा सूर्य की पूजा करता है। वह जानता है, कि प्रकृति यदि उसे हानि पहुँचाती है तो साथ ही उसे लाभ भी देती है।

इसी प्रकार चित्रकला में यदि चित्रकार प्रकृति की नकल करे या उसका प्रतिस्पर्धी बने तो समस्या जटिल ही होगी। चित्रकला तो मनुष्य की अभि-व्यक्ति का एक माध्यम मात्र है, सरल भाषा में अपने भावों को व्यक्त करना है। यदि चित्रकार यह चाहता है कि उसकी कला की भाषा को समाज भी समझ सके और उसका आनन्द ले सके तो उसे सरल बनना पड़ेगा, शायद उसी भाँति जैसा कि अति प्राचीन कला का रूप था।

जिस प्रकार यह कोई नहीं कह सकता कि आदिम निवासी आज से कम सुखी थे, उसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनकी कला आधुनिक कला से कम प्रभावोत्पादक थी। शायद उस समय मनुष्य अधिक सुखी था और उसकी कला का रूप भी अधिक सामाजिक था।

प्रतीकात्मक प्रवृत्ति

मनुष्य अपने को व्यक्त करना चाहता है, यह उसकी जन्मजात प्रवृत्ति है। दूसरी प्रवृत्ति जो मनुष्य में आरम्भ से ही है, वह है अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए अनेक वस्तुओं का निर्माण करना। ये दोनों प्रवृत्तियाँ आपस में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। जब मनुष्य को किसी चीज़ की आवश्यकता होती है, तो वह सर्वप्रथम उस वस्तु की कल्पना करता है। कल्पना करना भी अपनी इच्छा को या इच्छा की वस्तु को, चाहे मन में ही हो, किसी से व्यक्त करना ही है। वह अपने से व्यक्त करता है कि उसे किस वस्तु की आवश्यकता है। इतने से ही यदि काम चल जाता और कल्पना करने से ही वस्तु मिल जाती तो मनुष्य के लिए अपने को दूसरे से व्यक्त करने की आवश्यकता शायद न पड़ती। कल्पना करने पर मनुष्य चाहता है कि उसको साकार रूप में देखे। वह केवल इच्छा ही नहीं करता बल्कि इच्छित वस्तु को, अपनी कल्पना में आयी हुई वस्तु को प्राप्त करना भी चाहता है। मनुष्य यदि अकेले बिना किसी की सहायता के अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर लेता तो भी उसे अपने को दूसरों से व्यक्त करने की आवश्यकता न पड़ती। पर मनुष्य हार नहीं खाता है। वह देखता है कि वह अकेले अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं कर सकता। उसे दूसरे व्यक्तियों का भी सहयोग चाहिए। इसी आधार पर समाज का निर्माण हुआ। मनुष्य ने अपने को दूसरों से व्यक्त करना आरम्भ किया।

अपने को व्यक्त करने के लिए भी साधन की आवश्यकता हुई। मनुष्य इस बात की चेष्टा करने लगा। कल्पना की, इशारों से पहले उसने अपने को व्यक्त किया। इशारों के द्वारा जब मनुष्य अपने को व्यक्त करने लगा और उसमें सफलता मिली तो उसको लोगों ने याद करना और अनुकरण करना आरम्भ किया और एक-दूसरे पर निश्चित इशारों से प्रयोग होने लगा। प्रत्येक इच्छा धीरे-धीरे इशारों से प्रकट की जाने लगी। इशारों का एक विज्ञान बन गया, भाषा बन गयी। इस प्रकार, अपने को व्यक्त करने की चेष्टा में मनुष्य ने अनेक कलाओं का निर्माण किया।

मनुष्य की अभिव्यक्ति में चित्र-रचना अति प्राचीन है। वैसे तो बालक पैदा होते ही मुँह से स्वर निकालता है और मुद्राएँ बनाता है अपनी अभिव्यक्ति के लिए और इसमें सफलता भी पाता है, परन्तु इससे वह आरम्भ में साफ-साफ अपनी सब इच्छाओं को व्यक्त नहीं कर पाता। जैसे-जैसे बालक बढ़ता है वह इशारों, मुद्राओं तथा स्वरों और शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग करता जाता है। परन्तु आदिकाल में जब मनुष्य जंगली था और भाषाओं का कोई निश्चित स्तर नहीं रहा होगा, मनुष्य अपनी सारी इच्छाओं को स्वर या शब्द के द्वारा प्रकट नहीं कर पाता था। उस समय सबसे आसान यही मालूम पड़ा होगा कि जिस वस्तु को वह पाना चाहता है उसे ही यदि दिखाकर माँगे तो लोग तुरन्त उसका तात्पर्य समझ लेंगे। इसका भी प्रयोग उससे किया होगा; जिसको शिक्षा-सिद्धान्त में 'डाइरेक्ट मेथड आफ टीचिंग' कहते हैं। परन्तु यह भी अधिक सफल न हुआ होगा, क्योंकि यदि इच्छित वस्तु उसके पास रहती ही तो वह उसका प्रयोग कर ही लेता। व्यक्त करने की आवश्यकता ही क्या थी? इसलिए जब उसे ऐसी वस्तु की आवश्यकता हुई होगी जो उसके आसपास प्राप्त नहीं है, तो सबसे सरल तरीका उसका चित्र बनाकर ही व्यक्त करना प्रतीत हुआ होगा और इस प्रकार चित्रकला का जन्म हुआ होगा।

आदिकाल में वस्तु का चित्र बना देना भी इतना आसान न रहा होगा कि इच्छित वस्तु का पूर्ण चित्र बनाया जा सके। इतना अभ्यास, इतनी शक्ति, इतना ज्ञान, मनुष्य में नहीं रहा होगा, परन्तु इसका प्रयत्न मनुष्य ने करना आरम्भ किया। वस्तु को पूर्ण रूप में यथार्थता के साथ व्यक्त करने का प्रयत्न किया, परन्तु इतनी शक्ति न होने के कारण वह केवल वस्तुओं का प्रतीकात्मक रूप ही बना सका होगा। ऐसे प्रतीक जिनको देखकर इच्छित वस्तु का बोध हो सके। धीरे-धीरे इन प्रतीकों को मनुष्य ने स्मरण कर लिया होगा और ये अभिव्यक्ति में प्रयुक्त होने लगे। इसी को आज हम प्रतीकात्मक चित्र-कला का नाम देते हैं। आगे चलकर सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह प्रतीक वस्तु के रूप के और भी समीप होते गये और वस्तु और उसके प्रतीक के रूप में भिन्नता बहुत कम हो गयी। ऐसी चित्रकला को यथार्थवादी चित्रकला कहा गया। परन्तु आधुनिक युग में अनेक विज्ञानों तथा विद्याओं के आविष्कार के बाद भी मनुष्य ने देखा कि वस्तु बिल-कुल यथार्थ रूप में चित्रित कभी नहीं की जा सकती। हम चाहे जितना यथार्थ रूप वस्तु का बनायें, वह रहता केवल एक प्रतीक ही है उस वस्तु का। इसलिए चित्रकला प्रतीका-त्मक ही कही जा सकती है, चाहे वह यथार्थ रूप के जितना भी समीप हो।

भारतवर्ष में चित्रकला सदैव प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक रही है। चित्रकला में यथार्थवादिता लाने का प्रयत्न बहुत ही कम हुआ। पश्चिम के बनिस्वत पूर्वी देशों में सभी

जगह प्रतीकात्मक चित्रकला का प्रचार रहा है । पश्चिमी देशों में जैसे-जैसे विज्ञान का प्रचार होता गया, वैसे-वैसे वहाँ की कला यथार्थवादिता की ओर अग्रसर होती गयी । विज्ञान का प्रभाव एशियाई देशों पर भी पड़ा और यहाँ भी यथार्थवादी दृष्टिकोण आधुनिक चित्रकारों का हुआ, परन्तु यथार्थवादी चित्रकला का यहाँ कभी विकास नहीं हो पाया । आज भी भारत की तथा अन्य एशियाई देशों की चित्रकला प्रतीकात्मक अधिक है ।

भारतवर्ष में प्राचीन चित्रकला अधिकतर धार्मिक ही रही है । अपने देवी-देवताओं, उनकी शक्तियों तथा चरित्र को दर्शाने के लिए यहाँ के चित्रकारों ने प्रतीकात्मक शैली ही अपनायी और उसमें महान् सफलता पायी । विष्णु, शिव, ब्रह्मा तथा इनके अवतारों के चित्र प्रतीकों के सहारे ही विकसित हुए । इन देवी-देवताओं को कभी किसीने नहीं देखा, इसलिए इनका यथार्थ चित्र तो बन नहीं सकता, केवल कल्पना, वेदों तथा शास्त्र और पुराणों के वर्णन के अनुसार प्रतीकों से इनकी रचना की गयी । प्राचीन भारतीय चित्रकला में इस प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है । ज्ञान की देवी सरस्वती को धवल वर्ण दिया, क्योंकि श्वेत रंग ज्ञान का प्रतीक है । इसी प्रकार देवी सरस्वती को हंस वाहन मिला, क्योंकि हंस विवेक तथा बुद्धि का प्रतीक है, भुजाओं में वीणा, पुस्तक तथा कमल रखा, क्योंकि ये कलाओं, विज्ञानों तथा विद्याओं के प्रतीक हैं । इसी प्रकार सारे देवी-देवताओं के चरित्र-चित्रण तथा शक्तियों को व्यक्त करने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया गया । इस प्रतीकात्मक शैली का जितना पूर्ण विकास भारतवर्ष में हुआ है, शायद और किसी देश में नहीं ।

उन्नीसवीं शताब्दी भर यूरोप में यथार्थवादी कला का प्रचार और विकास होता रहा और पूर्वी देशों में प्रतीकात्मक कला का ही प्रादुर्भाव रहा । इस शताब्दी तक आक्रमणों और राजनीतिक परिवर्तनों के कारण यूरोपवासी पूर्वी देशों की कलाओं के सम्पर्क में आये । इससे पहले उनको यह ज्ञान भी नहीं था कि उनके अतिरिक्त अन्य देशों में भी चित्रकला तथा ललित कलाओं का विकास हो चुका है । यहाँ की कला के सम्पर्क में आने पर उन्हें पता लगा कि चित्रकला केवल बाह्य सांसारिक रूपों की नकल नहीं है बल्कि उससे ऊपर भी कुछ है : विख्यात यूरोपीय चित्रकला-आलोचक मिस्टर हर्बर्ट रीड अपनी पुस्तक 'आर्ट नाऊ' में लिखते हैं ।

"लोगों ने एकाएक अनुभव किया कि चित्रकला बाह्य सांसारिक रूपों का पुनर्निर्माण नहीं हो सकती, बाह्य सांसारिक स्वरूपों की केवल एक झलक हो सकती है ।"

"उदाहरणार्थ, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में जापान से आए हुए चित्रों

का प्रभाव समस्त उत्तर-ग्राभासिक (पोस्ट इम्प्रेश्निस्ट) धारा पर ग्रपने गुण तथा गणना के ग्रनुपात से भी ग्रधिक पड़ा।"

इसी समय फ्रांस के एक गाँव में पाल गोगाँ नामक चित्रकार एशियाई चित्रों से इतना प्रभावित हुग्रा कि ग्रपना सारा कामकाज छोड़कर उसने इन्हीं चित्रों के ग्राधार पर चित्र रचना का कार्य ग्रारम्भ किया। १८८८ ईसवी में उसकी मुलाकात एक दूसरे चित्रकार से हुई जिसका नाम पाल सेरूसिया था। पाल सेरूसिया उस समय चित्रकला के क्षेत्र में काफी ख्याति प्राप्त कर चुका था। उसने पाल गोगाँ के नये चित्र देखे ग्रौर उनकी रोचकता तथा ताजगी देखकर वह बहुत प्रभावित हुग्रा। दोनों ने मिलकर यूरोप में चित्रकला की एक नयी धारा ही निकाल दी, जो ग्राज की ग्राधुनिक यूरोपीय कला का ग्राधार बन गयी है। फ्रांस के विश्वविख्यात कलाकार वान गाग ने भी इस धारा से प्रभावित होकर रचना की। उस समय यूरोपीय साहित्य में प्रतीकात्मक धारा चल रही थी, इसीलिए गोगाँ तथा सेरूसिया की चलायी हुई चित्रकला की नवीन धारा का नाम प्रतीकात्मक चित्रकला नहीं पड़ सका, यद्यपि ग्राज भी जो यूरोपीय ग्राधुनिक चित्रकला है वह ग्रति प्रतीकात्मक है। पाँच शताब्दियों से यूरोपीय चित्रकला जिस रास्ते से जा रही थी, उसने एकाएक ग्रपना रास्ता बदल दिया। बाह्य सांसारिक स्वरूपों का चित्रण करना ग्रब ग्रावश्यक नहीं समझा जाता। कलाकार इन बाह्य स्वरूपों के ग्रन्दर छिपी किसी ग्रन्य वस्तु के भावों का चित्रण करने के लिए उद्यत हुग्रा, जिनको बिना प्रतीकों की सहायता से बनाया ही नहीं जा सकता।

जिस समय इस नयी धारा का जन्म फ्रांस के एक गाँव में हुग्रा, किसी ने ग्राशा न की थी कि एक दिन वह ग्राधुनिक यूरोपीय कला के प्रसार का ग्राधार बनेगी ग्रौर एक शक्तिशाली चित्रकला-शैली में परिणत हो जायगी। ग्राज की ग्राधुनिक जटिल होती हुई कला की कुंजी बनेगी। पाँच सदियों की यूरोपीय चित्रकला केवल वर्णनात्मक स्वरूपों को लेकर ग्रागे न बढ़ सकी ग्रौर उसे प्रतीकात्मक बनना पड़ा।

इस प्रकार पूर्वी देशों की प्रतीकात्मक ग्रालंकारिक चित्रकला ने ग्राधुनिक यूरोपीय कला को नयी प्रेरणा दी जिसके फलस्वरूप वहाँ ग्रब वस्तुग्रों के बाह्य सांसारिक स्वरूपों का चित्रण करना बिलकुल निकृष्ट समझा जाता है। कुछ समय पहले जब इस नयी धारा का प्रचार नहीं हुग्रा था, तो यूरोप में भारतीय तथा पूर्वी चित्रों को देखकर लोग उन्हें ग्रपभ्रंश शैली या ग्रपरिपक्व कला कहकर छोड़ देते थे। वे देखते थे कि उनकी बाह्य सांसारिक स्वरूपों की चित्रकला-पद्धति की समानता में पूर्वी कला में कुछ भी दम नहीं

था। यूरोपीय कला यथार्थ स्वरूपों का चित्रण करने में काफी सफल हो चुकी थी। नये-नये सिद्धान्त भी बन चुके थे, जैसे दृष्टि-विज्ञान इत्यादि। पूर्वी चित्रों में यह दृष्टि-विज्ञान नहीं प्रयुक्त होता था इससे यूरोपीय लोग यही समझते थे कि अभी पूर्वी देशों की चित्रकला बहुत ही प्रारम्भिक स्थिति में है, यद्यपि वहाँ चित्रकला का कार्य यूरोप से हजारों वर्ष पूर्व से होता रहा है। प्रगति या विकास, किसी एक जाति अथवा वर्ग की संपत्ति नहीं है। यह तो आज का विज्ञान तथा मनोविज्ञान दोनों मानते हैं कि प्रगति सभी जगह एक प्रकार से होती है। जहाँ चित्रकला हजारों वर्ष से बन रही है उसमें विकास भी अधिक होगा, यह बिलकुल स्वाभाविक है। यह सोचना कि उस देश में जहाँ कला का कार्य हजारों वर्षों से होता आ रहा है, लोगों को पर्स्पेक्टिव का ज्ञान न हुआ होगा, उचित नहीं है। हाँ, हम यह कह सकते हैं कि शायद यहाँ लोगों ने पर्स्पेक्टिव का ज्ञान चित्रकला में आवश्यक ही नहीं समझा। यहाँ की कला प्रतीकात्मक ही बनी रही और उसी ओर प्रगति करती रही।

कला का प्रत्येक रूप आत्म-अभिव्यक्ति है, इच्छाओं की पूर्ति है। पूर्वी कला ने पूर्वी कलाकार को सन्तोष प्रदान किया, क्योंकि उसकी निर्माणकारी वृत्ति को सन्तोष मिला। उसने रेखाओं में लय खोजी, रंग में सामंजस्य (समता) और रूपों में पूर्णता। यह सब उसे बिना पर्स्पेक्टिव की सहायता के मिला।

आधुनिक यूरोपीय चित्रकला पर भारतीय प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक चित्रकला का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी में यथार्थवादी चित्रकला तथा आभासिक चित्रकला, जो यूरोप में अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी, एक बार परिवर्तित हो गयी। बीसवीं शताब्दी की आधुनिक कला का आरम्भ पाल गोगाँ से होता है, जिसने आभासिक तथा उत्तर आभासिक चित्रकला का रुख ही बदल दिया और प्रतीकात्मक, लाक्षणिक तथा आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकला की नयी धारा की नींव डाली। आज यूरोप में इस नयी धारा का सर्वथा प्रचार हो गया है। यूरोप की कला प्रतीकात्मक हुई जा रही है और भारतीय तथा पूर्वी चित्रकला उनका पथ-प्रदर्शन करने के लिए शुभागमन कर रही है।

आधुनिक भारत में चित्रकला के क्षेत्र में लोग भ्रम में पड़े हैं। अंग्रेजी आधिपत्य के साथ यहाँ भी यथार्थवादी चित्रकला का काफी प्रादुर्भाव हो चुका है। स्वामिभक्त गुलामों की तरह भारतवासियों ने अंग्रेजों को अपना पथ-प्रदर्शक माना। अंग्रेज तो भारत छोड़-कर चले गये, इसलिए अब हमें पथ सूझता ही नहीं। आज भी यहाँ यथार्थवादी चित्रकला

की माँग है और चित्रकार वह माँग पूरी कर रहे हैं। परन्तु आधुनिक नवयुवक चित्रकारों की आँखों में आधुनिक यूरोपीय चित्रकला ने चकाचौंध कर दिया है, जिससे प्रभावित होकर वे भी प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक चित्रकला की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इसी को कहते हैं "द्राविड़ प्राणायाम" अर्थात् सीधे नाक न पकड़कर उलटे नाक पकड़ना। आधुनिक भारतीय चित्रकार, परम्परागत प्राचीन भारतीय प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक चित्रकला की ओर न जाकर, जो महासागर के सदृश हमारे देश में भरी पड़ी है, अनुकरण-वृत्ति के कारण यूरोप की प्रतीकात्मक तथा आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकला से अधिक प्रभावित हो रहे हैं, सागर छोड़कर गागर की तरफ दौड़ रहे हैं। यूरोप तो कला के क्षेत्र में, अपने को दिवालिया पाकर भारत तथा अन्य पूर्वी देशों की कला का आधार ले रहा है और यहाँ हम प्रेरणा के लिए उलटे उसका अनुकरण कर रहे हैं।

आधुनिक भारतीय कलाकारों में बंगाल चित्रकला-शैली के विख्यात चित्रकार श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री नन्दलाल बोस, श्री क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार इत्यादि ने भी अपने चित्रों में, अभिव्यंजना में, भारतीय प्रतीकों का सहारा लिया है, यद्यपि तूलिका-कौशल में इनपर भी यथार्थवादी चित्रकला का प्रभाव रहा है। इस शैली के चित्रकारों में श्री नन्दलाल बोस ने प्रतीकात्मक भारतीय प्राचीन शैली का सबसे अधिक अध्ययन किया है और अपने चित्रों में इसका प्रयोग भी किया है। देवी-देवताओं के चित्र उन्होंने सबसे अधिक बनाये हैं और उनमें प्रतीकों द्वारा ही अभिव्यंजना हुई है। यामिनी राय इस समय सबसे अधिक विख्यात चित्रकार हैं। इनकी चित्रकला-शैली भी प्रतीकात्मक है और इसमें उन्होंने बड़ी सफलता पायी है। उन्होंने अपने चित्रों में नये प्रतीकों का भी प्रयोग किया है और लोक-कला से प्रेरणा ली है। लोक-कलाएँ भारत में सब जगह प्रतीकात्मक हैं और इसमें मुख्य बात यह है कि प्रतीकों का रूप सरलतम होता है। आधुनिक कलाकारों में श्रीमती ली गोतमी ने तिब्बती तथा नेपाली प्रतीकात्मक कला से प्रभावित होकर बहुत सुन्दर चित्रों की रचना की है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के चित्रकला विभाग में भी वहाँ के विद्यार्थियों ने प्राचीन भारतीय प्रतीकात्मक चित्रकला को आधार मानकर नवीन चित्रों की रचना की है। महेन्द्रनाथ सिंह के चित्र इस दृष्टि-कोण से बहुत ही प्रभावोत्पादक हैं।

वर्णनात्मक प्रवृत्ति

वर्णन करना भी मनुष्य जाति की एक बहुत प्राचीन प्रवृत्ति है। वर्णन करना, मनुष्य की आत्म-अभिव्यक्ति का एक तरीका है। जीवन में मनुष्य जो कुछ अनुभव करता है, उसका स्वयं लाभ तो उठाता ही है, परन्तु केवल इसीसे उसे सन्तुष्टि नहीं होती। वह चाहता है कि उसके अनुभवों का दूसरे भी लाभ उठायें, इसमें भी उसे सन्तुष्टि मिलती है। वर्णन करने की प्रवृत्ति के साथ-साथ मनुष्य को वर्णन सुनने की भी प्रवृत्ति होती है। वह केवल वर्णन करता ही नहीं बल्कि वर्णन सुनना भी चाहता है। इससे उसके ज्ञान की वृद्धि होती है। बालक स्वयं वर्णन करने योग्य नहीं होते, क्योंकि न तो उनके शब्द-भण्डार की वृद्धि हुई होती है, न अनुभव की, परन्तु आरम्भ से ही उन्हें वर्णन सुनने में आनन्द मिलता है। दो वर्ष का बालक भी कहानियाँ सुनना पसन्द करता है, और प्रसन्न होता है। ऐसा शायद ही कोई बालक हो जिसे कथा-कहानी सुनने में आनन्द न मिलता हो। बालक चाहे शहर का हो या गाँव का, अमीर घर में उसने जन्म लिया हो या गरीब घर म, उसे कहानी भाती है। प्रायः देखा गया है कि गाँव के बच्चे कथा-कहानी सुनने में और भी अधिक उत्सुकता दिखाते हैं। गाँवों में कथा-कहानियों का प्रचार बहुत मिलता है। वहाँ के बालक, आधुनिक शिक्षा-प्रणालियों का लाभ उठा नहीं पाते, इसलिए कथा-कहानी उनकी शिक्षा का माध्यम हो जाती हैं। यही नहीं, जंगली जातियों में भी किस्सा-कहानी का बड़ा प्रचार होता है। साहित्य का इतिहास खोजने पर भी कथा-कहानियों का स्थान पहले आता है।

वैसे तो कला मनुष्य के काम करने का केवल तरीका है और रचना करना उसकी जन्मजात प्रवृत्ति है। रचना करने और वर्णन करने में अन्तर है। रचना करने में मनुष्य को आनन्द मिलता है, जो इसी कार्य का आनन्द है, परन्तु वर्णन करना आनन्द-दायक होते हुए भी अपना एक अन्य लक्ष्य भी साथ में रखता है। मनुष्य शायद वर्णन न करता यदि वर्णन सुननेवाला कोई न होता। कोई भी व्यक्ति अकेले वर्णन नहीं करता। वर्णन सुनने के लिए श्रोतागण होने चाहिए। परन्तु रचना के लिए यह आवश्यक नहीं

है। रचना करके आनन्द तुरन्त मिल जाता है, इसलिए कला के लिए, जो रचना का दूसरा नाम है, यह आवश्यक नहीं कि वह वर्णनात्मक हो। फिर भी रचना में वर्णन का महत्त्व कम नहीं किया जा सकता। रचना के साथ वर्णन आदि काल से चला आ रहा है, प्रधानतया ललित कलाओं के साथ और आज भी वर्णनात्मक रचना का प्रादुर्भाव कम नहीं हुआ है। किसी न किसी रूप में रचना में वर्णन आ ही जाता है, चाहे रचना करनेवाले ने इस पर ध्यान न भी दिया हो।

मान लीजिए, कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाता है या उनकी रचना करता है। यहाँ उसका तात्पर्य केवल रचना करना है, वह वर्णन करना नहीं चाहता। परन्तु जरा सोचिए, जब मिट्टी के सुन्दर-सुन्दर बर्तन बनकर आपके सम्मुख आते हैं, आप उन्हें निहारते रह जाते हैं। उन बर्तनों की रचना का सारा इतिहास आपके सम्मुख आ जाता है। किस प्रकार कुम्हार तालाब से खोदकर मिट्टी लाया होगा, उसे अच्छी तरह साफ किया होगा, गूँधकर चाक पर उसे रखा होगा, फिर चाक को अपनी लाठी से नचाते हुए अपनी उँगलियों को किस प्रकार गीली मिट्टी के ऊपर चलाता रहा होगा और रूप बनता चला गया होगा। क्या यह इतिहास नहीं है? वर्णन नहीं है? अवश्य है, परन्तु यह सब हमने उन बर्तनों को देखकर जान लिया। कुम्हार ने जान-बूझकर कोई वर्णन करना नहीं चाहा था। इसी प्रकार चित्रकला और सभी ललित कलाओं में वर्णन कलाकार का ध्येय चाहे न हो, पर उसमें वह रहता ही है। चित्र का एक-एक हिस्सा, पेंसिल तथा तूलिका के एक-एक नुक्ते, रंगों के छोटे-से-छोटे धब्बे चित्र का इतिहास बताते हैं और वर्णन उसमें निहित है।

यहाँ हमारा ध्येय उस प्रकार की चित्रकला का वर्णन करने का है, जो जान-बूझकर वर्णनात्मक बनायी गयी है। हमारी सारी प्राचीन कला वर्णनात्मक शैली पर आधारित है। ब्राह्मण-कला, गुप्तकालीन कला, बौद्ध तथा जैन कला, राजपूत तथा मुगल कला सभी वर्णनात्मक हैं। हमारी आधुनिक लोक-कला भी वर्णनात्मक है। वर्णनात्मक शैली का जितना प्रादुर्भाव भारतवर्ष में हुआ और जितनी उत्कृष्ट वर्णनात्मक शैली यहाँ रही है, उतनी कदाचित् किसी काल में किसी देश में नहीं रही। यहाँ की वर्णनात्मक शैली का ढंग ही निराला रहा है। उस समय हमारी उच्चकोटि की वर्णनात्मक चित्रकला-शैली ने हमारे समाज को जाग्रत करने तथा उसके उत्थान और शिक्षा में जो योग दिया है, उसके हम आज भी ऋणी हैं। वर्णनात्मक चित्रकला-शैली हमारी शिक्षा का मुख्य आधार बन गयी थी। पुस्तकों तथा छापाखानों के न होने और उनके अभाव के समय यही एक सरल तथा कुशल माध्यम था, जिसके द्वारा मनुष्य शिक्षा पा सकता था।

वर्णनात्मक सूक्ष्म चित्र
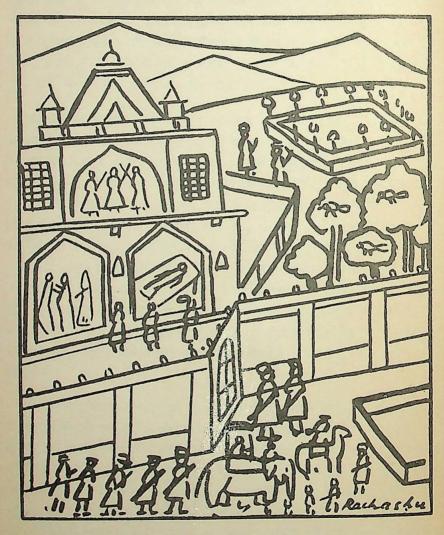
राज्य शोक

भाषण का माध्यम तो प्रचार में था ही, परन्तु जो कार्य चित्रकला कर सकती थी, वह इससे भी नहीं हो सकता था। भाषण तो फिर भी सर्वग्राह्य नहीं हो सकता था, परन्तु चित्रकला थी। प्रत्येक मन्दिर, राजभवन, राजसभाएँ, जनता-गृह, निवास-स्थान, इस प्रकार की वर्णनात्मक शैली के शिक्षालय थे और जनता के मनोरंजन तथा विकास के साधन थे। वर्णनात्मक शैली के सबसे उत्कृष्ट उदाहरण हमें बौद्ध चित्रकला में मिलते हैं, जो आज भी अजन्ता-एलोरा में प्राप्त हैं।

आधुनिक समय में शिक्षा के अनेकों माध्यम ज्ञात हो गये हैं। पुस्तकें हजारों, लाखों की संख्या में छप-छपकर तैयार हो रही हैं, ग्रामोफोन, रेडियो तथा टेलीविजन का आविष्कार और प्रचार हो चुका है, ब्लाक प्रिंटिंग तथा फोटोग्राफी स्थान-स्थान में फैल गयी है। यातायात के नये-नये तरीके आविष्कृत हो चुके हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर मनुष्य जरा से समय में पहुँचने लगा है। ऐसे समय में केवल वर्णनात्मक चित्रकला ही जनता की शिक्षा का माध्यम नहीं है, न उसका इतना महत्त्व ही रह गया है। फिर भी चित्रकला में वर्णनात्मक शैली का आज भी स्थान है, यद्यपि अब आधुनिक चित्रकार इसका उपयोग बहुत कम कर रहे हैं, परन्तु चित्रकला की शैलियों में वर्णनात्मक शैली का एक अपना स्थान है और रहेगा।

आधुनिक वर्णनात्मक चित्रकला शैली का रूप यद्यपि परिवर्तित हो गया है, परन्तु आज भी ऐसे अनेक चित्रकार हैं जो वर्णनात्मक शैली को अपनाये हुए हैं। आज के वर्णनात्मक शैली के चित्रकार पश्चिम से प्रभावित होकर अपनी प्राचीन वर्णनात्मक शैली को भुला बैठे हैं। जो शक्ति इस प्राचीन शैली में थी वह आज नहीं है। यदि हमें वर्णनात्मक शैली का उपयोग करना है तो प्राचीन परम्परा को आधार बनाना पड़ेगा, भले ही उसे हम आधुनिक अनुभव से परिमार्जित करें।

प्राचीन भारतीय वर्णनात्मक शैली की मुख्य विशेषता यह थी कि उसके चित्रों में वर्णन उसी भाँति स्वाभाविक रूप में होता था जैसे कथा-कहानियों में। एक ही भित्ति पर क्रमबद्ध रूप में एक के बाद दूसरा दृश्य आता जाता था, और कहानी की भाँति मनुष्य आगे बढ़ता था। बुद्ध का जन्म, उनके बाल्यकाल के दृश्य, यौवन-काल के दृश्य, प्रौढ़ावस्था के दृश्य, तथा वृद्धावस्था के दृश्य, इसी प्रकार क्रम चलता था। एक ही चित्र में अकबर का राजमहल, उसकी चहारदीवारी, बाह्य-वातावरण, बाहर खड़े दरबारियों का दृश्य, भीतर का दृश्य, उसके तख्त का दृश्य, सभी चित्रित होते थे। सभी दृश्य एक समय के तथा सम्बन्धित होते थे। परन्तु आधुनिक वर्णनात्मक चित्र एक-एक कागज

पर अलग-अलग बनाये जाते हैं। एक चित्र में केवल एक विशेष स्थान का ही वर्णन होता है, जैसा मनुष्य आँखों से देखता है। चित्र केवल अकबर के तख्त का हो सकता है, या उस कमरे का, या उसके भवन का केवल एक ही हिस्सा दृष्टिगोचर होता है। मान लीजिए, अकबर के कमरे के द्वार पर एक पर्दा टँगा हो तो फिर चित्र में न अकबर दिखाई पड़ेगा, न उसके तख्त का रूप। इस प्रकार हमारी वर्णन करने की शक्ति, दृष्टिसम्बन्धी विद्या के ज्ञान से बँध जाती है। वर्णन करने से अधिक महत्त्व 'पर्सपैक्टिव' का हो जाता है। इसीलिए आधुनिक चित्रों में चित्रकार की कुशलता उसके 'पर्सपैक्टिव' के ज्ञान से तौली जाती है, उसकी वर्णनात्मक कुशलता से नहीं। यह 'पर्सपैक्टिव' का ज्ञान कला की भाषा को सरल बनाने के बजाय और जटिल बना देता है। कला अपने ध्येय से हटकर केवल दृष्टि-सम्बन्धी विद्या के ज्ञान को व्यक्त करने में फँस जाती है। जो पाश्चात्य कला-आलोचक भारतीय वर्णनात्मक शक्ति के ज्ञान से वंचित रहे हैं वे सदैव प्राचीन भारतीय चित्रकला को प्रारम्भिक, अपरिपक्व तथा क्षीण ही समझते रहे और अपनी निम्न बुद्धि का परिचय देते रहे। दुःख तो इस बात का है कि हमारे बहुत से कला-आलोचक, चित्रकार और जनता भी इन पाश्चात्य प्रचारकों के चंगुल का शिकार बनकर रह गयी। आज भी हम जितना आनन्द पाश्चात्य यथार्थवादी कला का लेते हैं, उतना अपनी प्राचीन कला का नहीं ले पाते। यह हमारी दुर्बलता तथा अयोग्यता का द्योतक है। हम भी इन प्राचीन चित्रों को देखकर उन्हीं पाश्चात्य प्रचारको के शब्द दुहराते हैं और कहते हैं कि उस समय हमारे कलाकार आधुनिक कला के सिद्धान्तों से वंचित थे और एक प्रारम्भिक अवस्था में थे। आज भी हम इन प्राचीन चित्रों को अस्वाभाविक समझते हैं और उनमें 'पर्सपैक्टिव' का ज्ञान न होने का आरोप लगाते हैं। परन्तु यही अज्ञान उस समय के शिल्पियों की दूरदर्शिता तथा कार्य-कुशलता का द्योतक है। जिसे हम अज्ञान समझते हैं वही उनकी शक्ति थी। आज उसे हम न पहिचान सकें, परन्तु यह शक्ति हमसे अब कोई नहीं छीन सकता।

भारतीय आधुनिक चित्रकारों में इस प्रकार की प्राचीन वर्णनात्मक शैली के अनुकूल चलनेवाले आज बहुत कम चित्रकार दिखाई पड़ते हैं। शायद ही इस समय भारत में कोई ऐसा चित्रकला-विद्यालय हो जहाँ इसी आधार पर वर्णनात्मक शैली के चित्र बनते हों। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के चित्रकला विद्यालय में इसी प्राचीन वर्णनात्मक शैली को एक परिमार्जित आधुनिक स्वरूप देने का प्रयास हुआ है। बम्बई के युवक चित्रकार टी० ए० कामरी का "दावत", बाबूजी हेरूर का "स्वतंत्रता दिवस" इसी प्राचीन वर्णनात्मक शैली पर आधारित उच्च कोटि के चित्र हैं। कलकत्ते के कल्याण सेन ने भी ऐसे

कुछ चित्र बनाये हैं। बनारस के महेन्द्रनाथ सिंह का "विह्वल राजकुमारी" तथा "जीवन-यात्रा" उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपनी चित्रकला में वर्णनात्मक शैली को बहुत सुन्दर ढंग से अपनाया है। यामिनी राय के बहुत से चित्र इसी शैली पर आधारित हैं। बनारस में काशी-शैली के कलाकारों ने भी इसे अपनाया है। फिर भी यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे लुप्त-सी होती जा रही है और लगता है आगे भी इस ओर आधुनिक चित्रकारों का ध्यान कम ही होता जायगा।

आदर्शवादी प्रवृत्ति

मनुष्य बुद्धि की शक्तियाँ लेकर संसार में जन्म लेता है, अपनी बुद्धि से संसार का अनुभव करता है। सबसे महान् अनुभव उसे आनन्द या सुख पाने की लालसा में होता है। यह अनुभव एक ऐसा अनुभव है जिसके इर्द-गिर्द मनुष्य के दूसरे अनुभव चक्कर काटा करते हैं। सुख पाने के चक्कर में मनुष्य तमाम वस्तुओं का अनुभव करता है और यह निश्चय करना चाहता है कि सबसे अधिक सुख की प्राप्ति उसे कहाँ और किसमें होगी ? यही निश्चय या विचार उसका आदर्श बन जाता है जिसकी खोज में वह भ्रमण करता फिरता है। जिसका जैसा अनुभव होता है, वैसा आनन्द मिलता है और उसी के अनुरूप उसका आदर्श बनता है। इस प्रकार आदर्श केवल एक सूक्ष्म निश्चित विचार है, जो अनुभव पर आधारित है। जो व्यक्ति या समाज अपना एक निश्चित विचार तथा आदर्श बना लेता है और उसीके अनुकूल कार्य करने लग जाता है, उसी को आदर्शवादी पुरुष या समाज कहते हैं। चित्रकार भी इसी प्रकार अपने अनुभव पर आधारित अपना एक आदर्श बना लेता है और वह एक आदर्शवादी चित्रकार कहलाता है। ऐसा भी होता है कि एक ही समय में कई चित्रकार या चित्रकारों का समाज अपना एक ही आदर्श बनाये, तब उस समय की चित्रकला आदर्शवादी चित्रकला कहलाती है। प्रत्येक देश तथा समाज में अक्सर एक ही आदर्श का सर्वग्राह्य प्रचार हो जाता है, जैसे ब्राह्मण-काल में ब्राह्मण आदर्श, बुद्ध-काल में बौद्ध आदर्श, तथा आधुनिक काल में जनतंत्र तथा साम्यवादी आदर्श। युग-युग में, देश-देश में, इसी प्रकार विभिन्न आदर्श समाज के बन जाते हैं और व्यक्ति इन्हीं आदर्शों के अनुसार कार्य करता है। हम कह सकते हैं प्रत्येक देश तथा काल में केवल आदर्शवादी कला का ही प्रादुर्भाव हुआ करता है या प्रत्येक कला आदर्शवादी है।

परन्तु संसार में ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो जीवन भर कार्य करते रहते हैं, उन्हें अनुभव भी होता जाता है, परन्तु कभी भी वे किसी निश्चय पर नहीं पहुँचते, न उनका कोई आदर्श बन पाता है। हम कार्य करते हैं, परन्तु यह विचार नहीं कर पाते। हम नहीं जानते

हम क्यों कार्य करते हैं। ऐसे व्यक्ति का कोई आदर्श नहीं होता और न उसका कोई लक्ष्य ही होता है। वह नदी के प्रवाह में उस तृण की भाँति है, जो जल की लहरों की चपेट के सहारे बहता जाता है। उसे इसका भी ज्ञान नहीं होता, यह तो हम उसके सम्बन्ध में टीका कर रहे हैं। हम जानवरों को बुद्धिहीन कहते हैं, परन्तु जानवर न यही जानता है कि वह बुद्धिहीन है, न उसे हमारी टीका की परवाह है। वह अपनी गति से चलता जाता है। इसी प्रकार बहुत से मनुष्य भी कार्य करते हैं। वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते न इसके लिए प्रयत्न ही करते हैं। ऐसे मनुष्य अधिकतर अपनी सहज प्रवृत्तियों की प्रेरणा से कार्य करते जाते हैं और इन कार्यों के कारण पर वे कभी विचार नहीं करते, केवल कार्य करते जाते हैं। ऐसे मनुष्य प्रयत्न और त्रुटि 'ट्रायल ऐण्ड एरर' के सहारे अपना सब कार्य कर लेते हैं। यह भी एक प्रकार का दर्शन है, इसमें कोई आदर्श नहीं होता, न कभी बनता है। जैसी समस्या उपस्थित होती है तुरन्त उसका हल निकाल लेते हैं और आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार की कार्य-प्रणाली में विश्वास करनेवाले भी बहुत से दार्शनिक हैं जो "प्रैगमेटिस्ट" कहलाते हैं। इस दर्शन का पाश्चात्य देशों में बहुत प्रचार हुआ है। पाश्चात्य दार्शनिक डिवी इसीका प्रचारक है। कुछ लोग दर्शन को समझ कर चेतन रूप में कार्य करते हैं, कुछ बिना इसे समझे स्वभावतः ऐसा करते हैं। इसीके अनुसार बहुत से चित्रकार भी कला का कार्य करते हैं, इन्हें हम आदर्शवादी कलाकार नहीं कह सकते।

आदर्शवाद का प्रचार सबसे अधिक पूर्वी देशों में हुआ जहाँ की संस्कृति और सभ्यता का इतिहास अति प्राचीन है। पाश्चात्य आधुनिक देशों की सभ्यता तथा इतिहास इतना प्राचीन नहीं है, इसलिए यदि हम कहें कि उनका पूर्ण विकास भी अभी नहीं हो पाया है तो अतिशयोक्ति न होगी। ऐसी स्थिति में उस समाज के आगे उदाहरण कम होते हैं और उसकी स्थिति अभी खोज की है, उनका भविष्य खोज पर आधारित है। इसलिए उन्हें अपनी सहज प्रवृत्तियों के सहारे ही चलना पड़ता है। ऐसे देश यथार्थवाद में अधिक विश्वास करते हैं, उनका आदर्श धीरे-धीरे बनता है। जैसे-जैसे उनकी प्रगति होगी, वैसे-वैसे उनका आदर्श निश्चित होगा। भारत एक अति प्राचीन देश होने के नाते यहाँ बहुत से आदर्श बन चुके हैं और यहाँ का व्यक्ति तथा समाज अधिकतर आदर्शवादी होता है। इसी प्रकार भारतवर्ष की कला भी अधिकतर आदर्शवादी रही है। भारत में विभिन्न दर्शनों का प्रचार हुआ और उसी के अनुसार विभिन्न चित्रकलाओं का प्रादुर्भाव हुआ।

जब किसी देश, जाति या व्यक्ति का आदर्श निश्चित हो जाता है, तो उसका रास्ता अधिक सरल हो जाता है। आदर्श के अनुसार व्यक्ति अपना लक्ष्य निश्चित करता है, वहाँ

तक पहुँचने का मार्ग निश्चित करता है, उस मार्ग पर चलने का सिद्धान्त बनाता है और उसी प्रकार उसकी कार्य-प्रणाली में परिवर्तन होता है। सभी बातें निश्चित हो जाती हैं, उसकी सफलता भी निश्चित हो जाती है। कला के कार्य का भी यही मार्ग हो जाता है और उसमें सफलता का आधार दृढ़ हो जाता है।

भारतवर्ष की सम्पूर्ण कलाएँ आदर्शवादी रही हैं और इसीलिए उनके सिद्धान्त, उनकी कार्य-प्रणाली सभी निश्चित रही हैं। भारतीय कला के आदर्श, उनके सिद्धान्त तथा कार्य-प्रणाली का निश्चित विवरण हमें अपने वेदों, पुराणों तथा शास्त्रों में प्राप्त होता है, यद्यपि इस प्रकार के ग्रन्थों की खोज भली-भाँति नहीं हुई है। कला के ऊपर लिखे गये ग्रन्थ बहुत कम प्राप्त हैं, परन्तु विविध पुराणों में इन आदर्शों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख किया हुआ मिलता है। इन पुराणों में वास्तु-विद्या, शिल्प-विद्या तथा चित्र-विद्या के नाम से बहुत से अध्याय मिलते हैं, जिनसे हम अपने भारतीय चित्रकला के आदर्श तथा सिद्धान्त जान लेते हैं। अभी तक जो खोज हुई है उसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण 'विष्णु पुराण' तथा 'श्रीराम-कुमार का 'चित्र-लक्षणम्' है। वैसे तो अन्य सभी पुराणों में कला के बारे में लेख प्राप्त हैं, पर चित्रकला की दृष्टि में 'विष्णु-पुराण' तथा 'चित्र-लक्षणम्' महत्त्वपूर्ण हैं।

आदर्शवादी चित्रकला में यद्यपि उसका आदर्श, सिद्धान्त, तथा कार्य-प्रणाली निश्चित रहती है, पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि कला में स्वतंत्रता नहीं रहती। आदर्शवादी कला में कल्पना का बड़ा महत्त्व होता है और प्रत्येक व्यक्ति को पूरी स्वतंत्रता होती है कि वह अपने अनुभव के अनुसार कल्पना करे, परन्तु दृष्टिकोण निश्चित होना चाहिए, अर्थात् कल्पना का कोई निश्चित आधार होना चाहिए। कल्पना के योग से आदर्श की और भी पुष्टि होती है। मनुष्य की कल्पना का भी लक्ष्य होना चाहिए। कल्पना के आधार पर मनुष्य पुनः आदर्श की सृष्टि करता है, परन्तु यह आदर्श कोई नया आदर्श नहीं होता। परम्परागत आदर्शों का एक नया अनुभवगत स्वरूप होता है। ऐसे व्यक्तिगत रूप बनाने के लिए प्रत्येक मनुष्य को स्वतंत्रता है। यह नया अनुभव प्राचीन आदर्शों से भिन्न न होगा, केवल व्यक्ति के लिए अनुभूति होगी, जिसे वह नये रूप में समाज के सम्मुख उपस्थित करेगा।

आदर्शवादी कलाकार अपनी अनुभूति के अनुसार एक आदर्शलोक की कल्पना करता है। यह आदर्शलोक उसके वर्तमान वातावरण से परे होता है। ऐसी कल्पना वही करता है जो अपने वर्तमान वातावरण से सन्तुष्ट नहीं होता। अधिकतर मनुष्य अपने वर्तमान वातावरण से सन्तुष्ट नहीं होते, परन्तु साधारण मनुष्य अपने को उपायहीन समझकर

किसी प्रकार उसे सहता है या उसमें रहने का प्रयत्न करता है । ज्ञानी मनुष्य इस वातावरण से बचने का उपाय अपनी कल्पना से बनाता है । अपनी कल्पना के योग से वह अपने वर्तमान वातावरण को भी बदलने में बहुत सफल होता है । वह वातावरण को अपने अनुकूल बनाता है । यही कार्य वैज्ञानिक का भी है, वह विज्ञान के आधार पर अपने वातावरण को अधिक रुचिकर बनाता है । यही कार्य कलाकार का भी है, वह अपनी कल्पना के योग से अपने वातावरण को अधिक सुन्दर तथा आनन्द-युक्त बनाता है । इस प्रकार दार्शनिक एक काल्पनिक जगत् की सृष्टि कर उसी में भ्रमण करता है और अपने वर्तमान कटु वातावरण से बचता है ।

आदर्शवादी चित्रकला में रंग, रूप, आकार, रेखा, भाव, रस और इसी प्रकार उसकी कार्य-प्रणाली निश्चित होती है । ऐसी चित्रकला का रूप सदैव एक-सा होता है । चित्र देखकर ही कोई उसके आदर्श को भाँप सकता है । आदर्शवादी चित्रकार के चित्र सदैव एक-से होते हैं, उनकी कार्य-प्रणाली (टेकनीक) में भी भेद नहीं होता । प्रत्येक चित्र की कार्य-प्रणाली एक-सी होती है, चित्रों की रचना का आधार एक-सा होता है । चित्रों के रूप में परिवर्तन नहीं होता । आदर्शवादी चित्रकला के आलोचक ऐसी चित्रकला को प्रगतिवादी नहीं समझते । आधुनिक युग में प्रगतिवाद का बहुत प्रचार है । जिस कार्य में प्रगति न हो उसका कोई अर्थ ही नहीं होता । प्रगतिवादी चित्रकार केवल खोज में तथा अनुभव में विश्वास करते हैं और अनुभव और खोज का कोई अन्त नहीं है । अर्थात् निरन्तर खोज और अनुभव का कार्य चलते रहना चाहिए । आधुनिक कलाकार इसी में विश्वास करते हैं । यही हम उनका आदर्श कह सकते हैं और इस प्रकार आदर्शवादी चित्रकार वह है जो चित्र में किसी भाव या विचार को महत्त्व देता है, अर्थात् जो किसी विचार को चित्रित करता है । आधुनिक समय में आदर्शवादी चित्रकारों में श्री क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार तथा नन्दलाल बोस के नाम उल्लेखनीय हैं ।

दार्शनिक प्रवृत्ति

आज चित्रकला आत्म-अभिव्यक्ति का एक माध्यम समझी जाती है। पाषाण-युग में भी मनुष्य आत्म-अभिव्यक्ति के हेतु चित्रण करता था। पाषाण-युग के खँडहरों में चित्र आत्म-अभिव्यक्ति का कार्य करते हुए तो आज भी प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके चित्रों में कोई दर्शन छिपा हो, ऐसा आज शायद ही कोई विश्वास करे। प्रागैतिहासिक चित्रों की विद्वानों ने काफी खोज की है और आज बीसवीं शताब्दी में यूरोप में तो इसी के आधार पर पुनः चित्रकला का निर्माण हो रहा है। कहते हैं, विश्व-विख्यात चित्रकार पिकासो इजिप्शियन तथा नीग्रो प्राचीन चित्रों से इतना प्रभावित हुआ कि इसी के आधार पर उसने अपनी चित्र-कला की एक नयी धारा निकाल दी और आज अनेक चित्रकार उसी का अनुकरण कर रहे हैं। हम कह सकते हैं कि यूरोप एक भौतिकवादी देश है, इसलिए यदि वहाँ के चित्रकार प्रागैतिहासिक चित्रकला-पद्धति को आधार मानें या उससे प्रभावित हों तो कोई आश्चर्य नहीं, परन्तु भारतवर्ष सदा से दार्शनिक रहा है और रहेगा, इसलिए उसे इस प्रकार की भौतिकता में नहीं पड़ना चाहिए।

भारतवर्ष में भी प्रागैतिहासिक चित्रकला के उदाहरण मोहनजोदड़ो, हरप्पा, जोगीमारा की गुफाओं तथा खण्डहरों में प्राप्त हैं। इस चित्रकला का मूल्यांकन अभी भली-भाँति नहीं हो पाया है, परन्तु यदि भविष्य में हुआ भी तो यह शायद ही कहा जा सके कि यह चित्र दर्शन के ऊपर आधारित है। जोगीमारा की गुफाओं में जो चित्र मिले हैं वे या तो आखेट के हैं या जानवरों तथा पक्षियों के रेखाचित्र हैं। मोहनजोदड़ो तथा हरप्पा में बर्तनों, वस्तुओं पर बने कुछ टूटे-फूटे चित्र मिलते हैं और उनमें भी जानवर, पक्षी, मनुष्य तथा डिजाइन इत्यादि हैं। उन चित्रों में दर्शन नहीं मिलता। ब्राह्मण-कला, बौद्ध-कला, तथा जैन-कला में दर्शन मिलता है।

ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन, ये तीनों तीन प्रकार के दर्शन कहे जाते हैं और इसलिए इन कालों में जो चित्रकला हुई उसमें इन दर्शनों का दिग्दर्शन होना अपेक्षित है। इसलिए ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन कला दार्शनिक कही जाती है। बाद में मुगल तथा राजपूत-कला का

प्रादुर्भाव हुआ। मुगल-कला को भी दार्शनिक कोटि में गिनना निर्विवाद नहीं, परन्तु राज-पूत-चित्रकला इसका अपवाद नहीं। आधुनिक नवीन चित्रकला में तो हम स्वयं ही अनुमान लगा सकते हैं कि इसमें दर्शन है या नहीं।

भारतवर्ष में आज भी ऐसे अनेकों चित्रकार तथा चित्र-रसिक और आलोचक हैं जो दार्शनिक चित्रों को ही चित्र मानते हैं, जो स्वयं दार्शनिक चित्रकला में विश्वास रखते हैं और जो स्वयं भी दार्शनिक हैं। आनन्दकुमार स्वामी ने इसी पक्ष को कला सम्बन्धी अपनी प्रत्येक पुस्तक में बार-बार दुहराया है। ओ० सी० गांगुली तथा अवनीन्द्र नाथ ठाकुर भी इसी विचार के रहे हैं। बंगाल-शैली इस दिशा में बहुत प्रयत्नशील रही। श्री क्षितीन्द्र नाथ मजूमदार, असित हाल्दर इत्यादि चित्रकारों ने इसी प्रयत्न में अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया। परन्तु बंगाल-शैली के अन्तर्गत ही एक नयी चेतना का प्रादुर्भाव बड़े वेग से हो चुका है जिसने इस शैली को शिथिल कर दिया है। इस नयी चेतना के चित्रकारों में शायद दर्शन की मात्रा बहुत कम या नहीं है।

जो दार्शनिक होगा उसकी चित्रकला भी दार्शनिक होगी, ऐसा अनुमान किया जाय तो अनुचित न होगा। वर्तमान परिस्थितियों में पेट के प्रश्न के सामने दर्शन हवा हो जाता है। यही प्रश्न चित्रकार के सामने भी है—फिर आधुनिक चित्रकार दार्शनिक कैसे हो सकता है ? परन्तु दर्शन के पुजारी फिर भी चित्रकला में दर्शन देखना चाहते हैं। वे दर्शन से ही जीवन के सभी प्रश्नों को सरलता से हल करने का दावा करते हैं और कहते हैं कि आज भी भारत दर्शन की दृष्टि से संसार का सम्राट है। यूरोप के चतुर राजनीतिज्ञ इस चुनौती के सामने नीति-पटुता से सिर झुका देते हैं और कहते हैं—'भारतीयो ! दर्शन तुम्हारा गौरव है, तुम्हारा अंग है, तुम्हारा भोजन है, इससे कभी विमुख न होना।' अंग्रेजों ने भारत में दार्शनिक कला को खूब प्रोत्साहन दिया और जब तक वे भारत में रहे यहाँ की कला दर्शन की सीढ़ी पर निरन्तर चढ़ती रही।

डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बहुत से चित्र बनाये, इन चित्रों को भारत में बहुत थोड़े व्यक्ति चित्र समझते हैं। उनमें भी कुछ तो वे हैं जो यह सोचकर कि रवीन्द्र एक महान् कवि तथा दार्शनिक थे, इसलिए उनके चित्रों में महान् दर्शन भरा होगा, उन्हें रहस्यमय समझकर प्रशंसा करते हैं। परन्तु समाज का एक बड़ा भाग उनके चित्रों का आनन्द लेने से वंचित है। रवीन्द्रनाथ आधुनिक नवीन चित्रकला शैली से प्रभावित थे तथापि उनके चित्र बंगाल-शैली से भिन्न हैं। दार्शनिक होते हुए भी जो चित्र उन्होंने बनाये हैं, वे दर्शन के लिए नहीं, अपितु आत्म-अभिव्यक्ति के लिए और सहज निर्माण-प्रवृत्ति की प्रेरणा से।

उनके चित्रों में जैन, बौद्ध या बंगाल-शैली की छाप नहीं मिलती, उनके चित्रों द्वारा किसी दर्शन का संदेश नहीं मिलता; वे वयस्क होते हुए भी एक प्रगतिशील आधुनिक व्यक्ति थे। कविता से चित्रकला में उन्होंने अपने को अधिक स्वतंत्र पाया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चित्रकला में दर्शन का होना आजकल आवश्यक नहीं समझा जाता। चित्रकार जान-बूझकर अपने चित्रों में दर्शन नहीं लाता। हाँ, अनजाने ही यदि दर्शक को दर्शन दिखाई पड़े तो कोई असंभव नहीं। चित्र के दार्शनिक आलोचक तो अबोध-बालकों के चित्रों में ऊँचे दार्शनिक तत्त्व का होना भी संभव कर सकते हैं। गौतम बुद्ध ने शून्य में भी शून्यवाद का दर्शन खोज लिया। इस प्रकार तो दर्शन एक अद्भुत चमत्कार-पूर्ण ज्ञान है।

इस प्रकार के अद्भुत, चमत्कारपूर्ण, रहस्यमय ज्ञान के जाल में एक बार फँसने पर निकलना कठिन हो जाता है। इसमें केवल चित्रकार ही नहीं फँसता बल्कि दर्शक भी। भारतवर्ष में चित्रकला का पूरा आनन्द न उठा सकने का एक कारण यह भी है कि यहाँ प्रत्येक यक्ति यदि इस रहस्य में स्वयं नहीं पड़ा है तो भी इससे परिचित करा दिया जाता है और चित्र को रहस्यमय समझकर उसकी ओर दृष्टि उठाता है। परिणाम यह होता है कि न चित्रों का रहस्य उसके सम्मुख खुलता है, न उसे आनन्द ही आता है।

दार्शनिक चित्रकला अधिकतर लाक्षणिक होती है। चित्रकार अपने दर्शन को प्रतीकों द्वारा चित्र में व्यक्त करता है। चित्रकार जीवन में सत्य का अनुभव करता है। सत्य एक सूक्ष्म वस्तु है – उसको चित्रित करने के लिए ये चित्रकार प्रकृति की अन्य वस्तुओं से उसे खोज निकालते हैं और उन्हीं रूपों द्वारा अपने दर्शन को व्यक्त करते हैं। मनुष्य को एक अभिनेता समझिए जो संसाररूपी रंगमंच पर अभिनय करता है, या मनुष्य एक यात्री है, अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए वह पाप-पुण्य-कर्मों का गट्ठर सँभाले निरन्तर चलता जाता है, या मनुष्य की वृद्धावस्था सन्ध्या है जो धीरे-धीरे मलिन हो जाती है, इत्यादि-इत्यादि। अर्थात् ऐसे चित्रों में जो भी वस्तुएँ चित्रित होती हैं वे केवल प्रकृति के रूप नहीं हैं अपितु उनमें कोई अर्थ छिपा रहता है। यही चित्र मनुष्य के जीवनगत अनुभवों और सत्य के प्रतीक होते हैं। एक वस्तु की दूसरे वस्तु से तुलना कर चित्र में दर्शन का रहस्य रचा जाता है।

दार्शनिक तथा काल्पनिक चित्रों का भेद भी समझ लेना आवश्यक है। वैसे तो दार्शनिक चित्र भी कल्पना पर आधारित हैं, परन्तु फिर भी आधुनिक युग में दार्शनिक तथा काल्पनिक चित्र भिन्न-भिन्न होते हैं। दार्शनिक चित्रकार का प्रयत्न यह होता है कि वह एक

समझे हुए रहस्य को सरल बनाकर प्राकृतिक रूपों में दर्शक के सम्मुख रखे। उसकी कल्पना उस दर्शन की परिधि से बाहर नहीं निकलती अपितु उसी की और पुष्टि करती है। काल्पनिक चित्रकार किसी दर्शन का गुलाम नहीं होता बल्कि अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर वह नवीन निर्माण करने का प्रयत्न करता है। वह एक नये संसार की कल्पना करता है। उसके सम्मुख जो भी वस्तु आती है उसे देखकर वह फिर कल्पना में लीन होता है और सोचता है कि इस वस्तु का रूप ऐसा होता तो अच्छा होता, या वह अपनी कल्पना-शक्ति के बल पर नयी व अनोखी वस्तुओं की कल्पना करता है और उसका एक अद्भुत रूप अपने चित्र में देता है। यूरोपीय विश्वविख्यात चित्रकार लियोनार्डो दा विंशी इस प्रकार का एक महान् काल्पनिक चित्रकार था। उसने अपनी कल्पना के बल पर, जब कि वायुयान, इत्यादि आधुनिक यातायात के माध्यम नहीं आविष्कृत हुए थे, इस प्रकार के उड़नेवाले वायुयान तथा यंत्रों को अपने चित्रों में निर्मित किया था। उसने बहुत से ऐसे जंगली जानवरों, पशु-पक्षियों के चित्र कल्पना से बनाये थे जो न उस समय प्रकृति में मिलते थे, न आज मिलते हैं।

आधुनिक भारत में दार्शनिक चित्रकार बहुत कम मिलते हैं। वंगाल-शैली के चित्रकारों में से डॉ० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, नन्दलाल बोस, क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार, असित हाल्दर तथा वीरेश्वर सेन इत्यादि के चित्रों में इस प्रकार के दार्शनिक चित्र मिलते ह। मुख्यत: असित हाल्दर के प्रारम्भिक चित्र जैसे—"शिशिर और वसंत", "बालक और वृद्ध" तथा उमर खैयाम सम्बन्धी चित्र। नन्दलाल बोस का—"डूबता सूर्य", क्षितीन्द्र मजूमदार का "यात्रा" तथा "शृंखलायुक्त स्वतंत्रता", अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का "पाषाण हृदय", "बिखरते मोती", "जीवन-यात्रा का अन्त" तथा "समुद्र तट पर बालक" इत्यादि उल्लेख्य हैं।

इस प्रकार के दार्शनिक चित्र असित हाल्दर के चित्रों में अधिक मिलते हैं और उनके चित्रों में इस विचारधारा की पूर्ण प्रगति दिखाई पड़ती है। "बालक और वृद्ध" उनका एक विख्यात चित्र है। "शिशिर और बसंत" इसी चित्र का एक दूसरा रूप है। इधर के आधुनिक चित्रकारों में दार्शनिक प्रवृत्ति का ह्रास ही देखा जा रहा है। इस समय बहुत कम चित्रकार दार्शनिक प्रवृत्ति के हैं। नये चित्रकारों में सतीश गुजराल ही अकेले हैं, जो जाने या अनजाने दार्शनिक कोटि के चित्र बना रहे हैं।

यथार्थवादी प्रवृत्ति

चित्रकला के इतिहास में बहुत से वाद आये, परन्तु किसी समय या किसी देश में ऐसी कोई चित्रकला-पद्धति नहीं प्रचलित हुई जो यथार्थवाद के नाम से सम्बोधित की गयी हो। फिर भी यथार्थवादी शब्द चित्रकला के क्षेत्र में जितना प्रचलित है, शायद ही कोई अन्य वाद हो। यूरोप में तो इस शब्द का प्रचार रहा ही परन्तु भारतवर्ष में भी यह बहुत प्रचलित हुआ। आज भी साधारण जनता चित्रकला के क्षेत्र में आये यदि किसी वाद से भलीभाँति परिचित है, तो 'यथार्थवाद' से। आज तक अधिकतर लोग यथार्थवादी चित्र पसन्द करते हैं।

यथार्थवाद शब्द यूरोपीय दर्शन में तो अवश्य बहुत प्रचलित रहा, परन्तु कला के क्षेत्र में वहाँ भी ऐसी कोई कला-पद्धति नहीं है, जिसे यथार्थवादी कहा गया हो। यथार्थवादी दर्शन में इसका तात्पर्य उस ज्ञान से है जिसमें संसार के बाह्य यथार्थता की प्रधानता रही है। यूरोपीय साहित्य ने दर्शन से यह शब्द अपनाया और यथार्थवादी साहित्य का प्रचलन हुआ। यथार्थवादी साहित्यकार जीवन को उसके अति सांसारिक रूप में ही देखता है। वह इसमें अपनी बुद्धि या कल्पना से अधिक महत्त्व इन्द्रियजन्य ज्ञान को देता है। वह संसार को वैसा ही यथार्थ समझता है, जैसा वह उसे अपने नेत्रों से देखता है। वह संसार के बाह्य रूप को ही सत्य मानता है। उसके परे उसे कुछ नहीं दिखाई देता। इस दृष्टिकोण से यदि हम चित्रकला में आयी पद्धतियों का निरीक्षण करें, तो इसकी समता उस चित्रकला-पद्धति से की जा सकती है जिसमें चित्रकार प्रकृति की वस्तुओं को उनके यथार्थ बाह्य रूप में चित्रित करना अपना मुख्य उद्देश्य समझता है। उन्नीसवीं शताब्दी की यूरोपीय चित्रकला इस भावना से बहुत प्रभावित रही, यद्यपि इसके साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी काफी प्रादुर्भाव हो गया था जिसके कारण वहाँ की चित्रकला केवल यथार्थवादी न रही बल्कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित रही। ऐसी चित्रकला 'इम्प्रेशनिस्ट आर्ट' (आभासिक चित्रकला) के नाम से सम्बोधित की गयी। यदि हम यथार्थवादी चित्रकला का शुद्धतम रूप खोजना चाहें, तो वह हमें नीदरलैण्ड की कला में मिलता है और मुख्यतः रूबेन्स तथा पीटर ब्रूगल की चित्रकला में।

यथार्थवादी प्रवृत्ति

चित्रकार—एस. जी. ठाकुर सिंह

विरह

रूबेन्स का नाम यूरोपीय चित्रकला के इतिहास में अमर हो गया है। यथार्थवादी चित्रकला में उससे बढ़कर संसार में कोई दूसरा चित्रकार नहीं हुआ। उसके चित्रों में अधिकतर स्थूलकाय नग्न युवतियों के चित्र हैं। वह ऐसे चित्र बनाने में बड़ा आनन्द लेता था। उसके नग्न युवतियों के चित्र आँख के सामने जीवित हो उठते हैं। शरीर की गठन, रंग, तथा मांस-पेशियों को उसने इतनी यथार्थता के साथ चित्रित किया है कि दर्शक एक बार सिहर उठता है और इच्छा होती है कि वह अपनी उँगलियों से उनकी मांस-पेशियों को दबाये या छूकर देखे। आँखों को धोखा हो जाता है, चित्रों के पात्र जी उठते हैं, और दर्शक का इन्द्रियजन्य ज्ञान जाग्रत हो उठता है। सचमुच इस दृष्टिकोण से संसार में इससे बढ़कर दूसरा कोई चित्रकार दृष्टिगोचर नहीं होता।

उन्नीसवीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड में कान्सटेबुल तथा टर्नर दो चित्रकार यथार्थवादी चित्र-कला में विख्यात हुए। कान्सटेबुल तथा टर्नर ने अधिकतर प्राकृतिक दृश्यों के चित्र बनाये और इनमें उन्होंने जो कुशलता प्राप्त की, शायद ही किसी यूरोपीय चित्रकार को मिली हो। कान्सटेबुल अधिकतर गाँवों के ही प्राकृतिक दृश्य चित्रित करता था। प्रकृति का चित्रण जितनी स्वाभाविकता के साथ उसने किया, दूसरा कोई चित्रकार न कर सका। यूरोपीय साहित्य में वर्ड्सवर्थ को जो स्थान दिया जाता है वही चित्रकला में कान्सटेबुल को। कान्सटेबुल के चित्रों में प्रकृति बोल उठती है, दृश्य का एक-एक तृण सजीव हो उठता है। दृश्य के वृक्ष हरे रंग के थोप नहीं मालूम पड़ते बल्कि झूमते हुए, लहराते हुए, खनकते हुए पत्तों के झुरमुट से प्रतीत होते हैं। ऐसा दृश्य शायद ही कोई अति निपुण फोटो-ग्राफर अपने कैमरे से खींच सके।

भारतवर्ष के दर्शन के इतिहास में मुश्किल से ही कहीं यथार्थवाद सुनायी पड़ सकता है। भारत ने प्रारम्भ से ही इस दृष्टिगोचर संसार को मिथ्या समझा। यहाँ सदैव से इहलोक और परलोक रहा। यहाँ प्रकृति को माया ठगिनी कहा गया अर्थात् धोखा कहा गया। यहाँ कभी लोगों ने इस लोक में विश्वास ही नहीं किया। मनुष्य को सदैव यह जीवन नश्वर तथा मिथ्या बताया गया, बिलकुल यथार्थवाद का उल्टा। जिसे यथार्थवाद सत्य सम-झता रहा, उसे भारत ने मिथ्या कहा। इसी प्रकार भारत की कला में भी कभी यथार्थवाद शब्द नहीं आया। भारतवर्ष के चित्रकला के इतिहास में एक भी स्थान ऐसा नहीं मिलता जहाँ यूरोप के यथार्थवाद के अनुरूप चित्रकला प्रचलित रही हो। बीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों के आधिपत्य-काल में भारत ने यथार्थवाद का नाम सुना, इससे परिचित हुआ। अंग्रेजों ने भारत की कला-कौशल की उन्नति तथा प्रचार की दृष्टि से यहाँ चित्रकला-विद्यालय भी खोले और यथार्थवादी चित्रकला का प्रचार करना आरम्भ किया। यहाँ की जनता ने

इनका खूब स्वागत किया, भारतीय कलाओं का ह्रास हुआ। वहाँ का प्रत्येक मनुष्य यथार्थ से परिचित कराया गया। साहित्य में, दर्शन में, कला में यथार्थवाद घुस आया। जिस प्रकार मधुशाला में साकी के पीछे लड़खड़ाते पाँवों से लोग नाचते फिरते हैं, उसी भाँति यथार्थवाद से लोग इस प्रकार चिपक गये जैसे गुड़ से चींटी। जीवन के प्रत्येक पहलू में यथार्थवाद समा गया।

चित्रकला के क्षेत्र में यथार्थवादी चित्रकार राजा रवि वर्मा हुए हैं। भारतीय कला, जिसका प्राण निकल चुका था, उसे पुन: जीवित करने के प्रयास में भारतीय चित्रकार राजा रवि वर्मा सबसे पहले आये। यथार्थवादी चित्रों का प्रचार इनके समय में जितना हुआ उतना न पहले कभी था, न बाद में हुआ। राजा रवि वर्मा ने धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक सभी प्रकार के यथार्थवादी चित्र बनाये। एक बार केप कैमोरिन से लेकर कश्मीर तक उनके यथार्थवादी चित्र फैल गये। जिस प्रकार अंग्रेजों के पहले भारत में शायद ही कोई ऐसा एक राजा रहा हो जो लंका से हिमालय तक और बर्मा से अफगानिस्तान तक फैल सका हो, उसी प्रकार यह यथार्थवादी कला थोड़े से समय में सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त हो गयी। राजा रवि वर्मा के चित्र प्रत्येक घर में टँगे दिखाई पड़ने लगे। शायद इतना प्रचार यूरोप में रूबेन्स का भी न रहा हो।

पुराने रईस, राजा, महाराजा, सभ्य पुरुषों ने अपने-अपने महलों और घरों में जो प्राचीन भारतीय चित्र लगे थे, उतार फेंकना आरम्भ किया और राजा रवि वर्मा तथा अन्य इस भाँति के कलाकारों के चित्रों से घर सजाने लगे। इनके घरों तथा महलों से उतारे हुए भारतीय चित्र गुदड़ी में नजर आने लगे, लोगों ने दो पैसे सेर के भाव से उसे मोल लिया, पुड़िया बाँधने के लिए। पर इन चित्रों से तो पुड़िया भी नहीं बँध सकती थी क्योंकि कड़े हाथ के बने कागज या भोजपत्र पर ही ये चित्र बनते थे। कहते हैं, भारत का बोझ इन चित्रों से हलका करने के लिए अंग्रेज इन्हें अपने यहाँ उठा ले गये जो आज भी यूरोप के म्यूजियमों को सुशोभित कर रहे हैं। आज भारतवर्ष में उतने प्राचीन चित्र नहीं हैं जितने यूरोप में। राजाओं, महाराजाओं ने अपना बोझ हलका करने के लिए अपने राजमहलों, मन्दिरों की दीवारों पर बने प्राचीन चित्रों पर सफेदी पुतवा दी!

इस प्रकार यथार्थवादी चित्र नयी पृष्ठभूमि पर बनाये गये और उनका प्रादुर्भाव हुआ। भारतीय जनता ने अन्धकार को दूरकर यथार्थ को समझा। बच्चा-बच्चा यथार्थ को समझने लगा और प्रेम करने लगा। चित्रकला-विद्यालय तथा प्रदर्शनियाँ यथार्थवादी चित्रकला से चमक उठीं। जनता पुन: प्रफुल्ल हो उठी, प्रत्येक सभ्य भारतीय नागरिक के घर में रूबेन्स, टर्नर, कान्सटेबुल सुशोभित हो उठे। यहाँ का साहित्य, कला, नीति,

दर्शन, सभी विद्याओं में यथार्थवाद लहराने लगा। देवी-देवताओं, ऐतिहासिक महानुभावों के स्थान पर नग्न युवतियों, प्राकृतिक दृश्यों तथा भोग-विलास के दृश्यों के यथार्थ चित्र टँग गये।

राजा रवि वर्मा भारतीय थे, उनमें भारतीय भावना तथा मर्यादा फिर भी बाकी थी। उन्होंने देवी-देवताओं के चित्र बनाना न छोड़ा। चित्रकला-पद्धति में वे अवश्य यूरोप से प्रभावित हुए थे, पर चित्र भारतीय बनाते थे। यूरोपीय चित्रकला-पद्धति में जब किसी वस्तु का चित्र बनाना होता है तो उस वस्तु को सामने रख लिया जाता है और यथार्थता के साथ उसका अनुकरण किया जाता है। रूबेन्स ने नग्न युवतियों के जितने चित्र बनाये हैं, मनगढ़न्त या काल्पनिक नही हैं। दिन-रात एक करके, रूबेन्स ने अपनी स्त्रियों को अपने सम्मुख करके, तब इन जीवित चित्रों की रचना की थी। यथार्थ चित्र बनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि चित्रकार जिस वस्तु का चित्र बनाने जा रहा है, उससे भली-भांति परिचित हो, उस वस्तु का अधिक से अधिक आनन्द उसने उठाया हो। जब तक इन वस्तुओं का पूरा भोग चित्रकार नहीं कर लेता तब तक उसके विचार पवित्र नहीं होते और यथार्थ चित्र भी नहीं बन सकते। रूबेन्स अपने माडेल्स का जब पूरा आनन्द ले चुकता था तब उनके चित्र बनाता था। उस आनन्द की मदिरा में चूर होकर ही वह सफल चित्र बना पाता था। बेचारे रवि वर्मा तो फिर भी भारतीय थे। उनके लिए यह आनन्द लेना कितना दुर्लभ रहा होगा, यह तो हम आज भी अनुभव करते हैं। इसीलिए भारतवर्ष में यथार्थवादी चित्रकारों में एक भी ऐसा न हुआ जो यदि रूबेन्स के टक्कर का न हो सकता, तो कम से कम, उसका अनुकरण करने का प्रयास ही करता। राजा रवि वर्मा को वेश्याओं को माडेल बनाना पड़ा। प्रत्येक चित्र बनाने के लिए माडेल आवश्यक था। राजा रवि वर्मा अधिकतर धार्मिक चित्र बनाते थे, जैसे सीता, सावित्री, पार्वती इत्यादि। पर यथार्थ चित्रण करना आवश्यक था अतः वेश्याओं को सीता जैसे वस्त्र तथा आभूषण पहनाकर उनको उसी मुद्रा में बिठाकर राजाजी चित्र बनाते थे। चित्रकार की कुशलता इसीमें देखी जाती थी कि माडेल का चित्रण कहाँ तक यथार्थ हो पाया है। इस प्रकार राजाजी ने सती सीता, सावित्री, पार्वती, देवी सरस्वती, लक्ष्मी इत्यादि के अनेकों चित्र बनाये और भारतीय घरों को सुशोभित किया। उनके उपकारों से हम कभी उऋण नहीं हो सकते।

राजा रवि वर्मा के समय से लेकर आज तक यथार्थवादी विचार प्रत्येक भारतीय के मस्तिष्क में चक्कर लगाया करते हैं। आज भी बीच-बीच में रसिक जन पुकार उठते हैं यथार्थ चित्रण के लिए। साधारण गाँवों की जनता इस यथार्थ का अधिक लाभ न उठा सकी

परन्तु प्रत्येक सभ्य भारतीय शिक्षित मानव पर यथार्थ की गहरी छाप पड़ी। आधुनिक समय में नित्य नये-नये चित्रकला के रूप आ रहे हैं। पुनः प्राचीन भारतीय चित्रकला-परम्परा को संचित करने का तथा जीवित करने का अधिक प्रयत्न हो रहा है, परन्तु भारतीय शिक्षित जन इस आवाज को नहीं सुन पाते, वे आज भी चित्रकार से यथार्थ चित्र की माँग करते हैं। यद्यपि आज का कलाकार इस माँग पर तनिक भी ध्यान नहीं देना चाहता। आज का चित्रकार स्वतंत्र है, उसके स्वतंत्र विचार हैं, वह जनता की माँग में विश्वास नहीं करता बल्कि स्वयं उसे कुछ निधि प्रदान करना चाहता है, जो जनता की माँग तो नहीं है पर समय की, देश की पुकार अवश्य है।

आधुनिक समय में यथार्थवादी चित्रकला का संसार में कहीं भी प्रचार नहीं है, यूरोप में भी नहीं। भारतवर्ष में यह विचार आया अवश्य, परन्तु ऐसा कोई भी यथार्थवादी चित्रकार न हो सका जिसकी तुलना कुशल यूरोपीय यथार्थवादी चित्रकार से हो सके। राजा रवि वर्मा से इस विचार का पदार्पण भारत में अवश्य हुआ, सारे कला-विद्यालय इन्हीं विचारों के अनुसार शिक्षा भी देने लगे, परन्तु 'खोदा पहाड़ निकला चूहा' वाली लोकोक्ति चरितार्थ होती है। वैसे तो सभी प्रान्तों में यथार्थवादी चित्रकार रहे और हैं, पर उल्लेखनीय कठिनाई से दो-चार हैं। कलकत्ते के मजूमदार तथा अतुल बोस, बम्बई के श्री देवस्कर, यू० पी० के ललित मोहन सेन, पंजाब के ठाकुरदास, मद्रास के डी० पी० चौधरी का नाम यथार्थवादी चित्रकारों में लिया जाता है।

भारतीय चित्रकला पर पाश्चात्य कला का प्रभाव सबसे पहले इसी यथार्थवादी कला से प्रारंभ होता है। बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता के चित्रकारों पर यह प्रभाव यथेष्ट रहा है और बाद में सारे देश में यथार्थवादी चित्रकला का बोलबाला हो गया। करीब-करीब सभी चित्रकला-विद्यालयों में इसी के आधार पर चित्रकला की शिक्षा देना आरम्भ हुआ और बहुत से विद्यालय आज तक इस पद्धति को अपनाये हुए हैं। यहाँ तक कि साधारण स्कूल-कालेजों में भी बच्चों को इसी यथार्थवादी चित्रकला के आधार पर कला की शिक्षा दी जा रही है। इससे भारतीय चित्रकला की प्रगति में बड़ी ठेस पहुँची है, पर लोग अभी तक इस पद्धति को चलाये जा रहे हैं। यदि हम भारतीय चित्रकला को अपने भौतिक ढंग से विकसित होते देखना चाहते हैं तो अविलम्ब इस अभारतीय पुरानी पड़ी पद्धति को बन्द करना होगा।

आभासात्मक चित्र

बुढ़ापे की लाठी

आभासात्मक प्रवृत्ति

भारतवर्ष की प्राचीन चित्रकला में भी यथार्थवाद के कतिपय उदाहरण मिलते हैं। पुराणों तथा शास्त्रों में यथार्थवादी चित्रकला की पूर्णता के कुछ उदाहरण मिलते हैं। एक बार एक प्राचीन भारतीय राजा भयजीत ने एक मृतक बालक का चित्र बनाया जो बिलकुल उसी बालक की तरह था, केवल जीवन उसमें नहीं था। यह कार्य ब्रह्मा ने स्वयं किया और चित्र में बना बालक जीवित हो उठा। इसी प्रकार जब पाण्डवों ने अश्वमेध यज्ञ किया तो एक ऐसा राजभवन बनवाया जिसके फर्श पर इस प्रकार की चित्रकला हुई थी कि जहाँ समतल था वहाँ पानी मालूम पड़ता था और जहाँ पानी था वहाँ समतल, महाराज दुर्योधन स्वयं इस कला के शिकार हुए थे। इतने पूर्व हम न जायँ और केवल मुगल कला पर ही दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि चित्रकार प्राकृतिक अनुकरण में आनन्द लेते थे। भारत में अंग्रेजी शासन के साथ-साथ अंग्रेजी कला का भी बहुत प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी की अंग्रेजी कला प्राकृतिक चित्रण के लिए विख्यात है। कान्सटेबुल, टर्नर इत्यादि कलाकारों ने इस प्राकृतिक चित्रकला को एक बहुत ही ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया। भारतवर्ष में फिर से कला का प्रचार आरम्भ हुआ और यहाँ के चित्रकारों ने इस अंग्रेजी चित्रकला का खूब स्वागत किया। राजा रविवर्मा ने इस प्रकार की चित्रकला शैली की नींव डाली और यहाँ की गुलाम जनता ने उनका सत्कार भी खूब किया। इसके बाद कला के क्षेत्र में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने पदार्पण किया और आधुनिक बंगाल-चित्रकला का जन्म हुआ।

बंगाल-चित्रकला अंग्रेजी चित्रकला से प्रभावित तो थी, परन्तु भारतीयता का आन्दोलन इस समय तक आरम्भ हो चुका था। कुछ दिनों तक बंगाल-चित्रकला में राजपूत, मुगल, अजन्ता की चित्रकला की धूम रही, परन्तु अभी भी भारत गुलाम था और भारतीय चित्रकार विलायत की सैर कर वापस आने लगे थे और साथ-साथ वे चित्रकला का एक नया रूप भी लाये जिन्हें वहाँ "इम्प्रेशनिस्ट आर्ट" (आभासिक-चित्रकला) कहा जाता था। यह वहाँ की यथार्थवादी चित्रकला का एक रूपान्तर मात्र है।

यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में प्रकृति की नकल करने की चेष्टा होती रही। इसमें

उन्हें काफी सफलता भी मिली । परन्तु बीसवीं शताब्दी तक आते-आते वह चेष्टा विफल होती-सी आभासित होने लगी । कदाचित् उन्हें अपनी अनधिकार चेष्टा का आभास हुआ कि प्रकृति की हूबहू नकल करना इतना सरल नहीं, शायद मनुष्य की शक्ति के बाहर है। प्रकृति की नकल-करते-करते वे थक गये । इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रकृति की हूबहू नकल करना उन्होंने छोड़ दिया, बल्कि वे सोचने लगे कि क्या प्रकृति की नकल करने का कोई सरल तरीका नहीं है ? जब आदमी थक जाता है, तो सदैव सरल तरीका खोजता है और यूरोप ने सरल तरीका खोज भी लिया। यही तरीका इम्प्रेशिनस्ट आर्ट याने आभासिक चित्र-कला कहलाता है ।

आभासिक चित्रकला प्राकृतिक रूपों को चित्रित करने की ही एक शैली है । इसके द्वारा आसानी से व्यवहार-कुशलता, चमत्कार, टेकनिक के आधार पर, प्रकृति के रूप बनाये जाते हैं जो दूर से देखने पर बिलकुल स्वाभाविक लगते हैं । आधुनिक यूरोपीय कला-आलोचक हर्बट रीड आभासिक चित्रकला पर टीका करते हुए कहते हैं—

"चित्रकला प्रकृति की नकल न होकर, एक चमत्कार हो गयी, जिसके द्वारा प्रकृति का साधारण रूप आभासित होता था ।" यूरोप में आभासिक चित्रकला का आन्दोलन बड़े वेग से फैला और काफी सफल रहा । इसके नेता सूरट तथा सिगनक माने जाते हैं और इसके मुख्य चित्रकार मैंने, माने तथा पिशारो इत्यादि हैं । इस शैली का सबसे अधिक विख्यात तथा सफल चित्रकार रेनुआ समझा जाता है ।

आभासिक चित्रकला का मुख्य प्रयत्न यह था कि चित्र में जो भी प्राकृतिक दृश्य या वस्तु चित्रित की जाय वह इस प्रकार चतुराई और कार्य-कुशलता से बनायी जाय कि देखने वाले को धोखा हो जाय । जैसे अगर एक बाग का दृश्य आभासिक चित्रकला शैली के अनुसार चित्रित करना है तो चित्रकार पेड़ों को रंगों के छोटे बड़े ढेरों से इस प्रकार ढालेगा कि दूर से देखने पर ये बिलकुल प्राकृतिक पेड़ दिखलाई पड़ेंगे, पर पास से देखने पर केवल रंगों के विभिन्न प्रकार के छोटे-मोटे निरर्थक ढेर दिखाई देंगे । अर्थात् प्रकृति के रूपों की अक्षरशः नकल नहीं की जायगी, बल्कि उन वस्तुओं की ऊपरी सतह तथा वर्ण या आवरण ही इस कार्य कुशलता से चित्रित किया जायगा कि वह देखने में बिलकुल प्राकृतिक लगे । जिस प्रकार प्रकृति के रूप सूर्य के प्रकाश के परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं, उसीके अनुसार चित्र में भी प्रकाश और छाया का इस प्रकार सम्मिश्रण किया जाय कि वस्तु प्राकृतिक लगे । इसीलिए इन चित्रकारों ने प्रकाश और छाया का वैज्ञानिक अध्ययन किया और उनसे प्राप्त सिद्धान्तों का अपनी चित्रकला में वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग किया । उन्नीसवीं शताब्दी को वैज्ञा-निक युग कहा गया है और चित्रकला में भी विज्ञान का होना आवश्यक है । अस्तु, हम देखते

हैं कि आभासिक चित्रकला में दो मुख्य कार्य-कुशलता दिखाई पड़ती है, एक तो ऊपरी सतह टेक्सचर की बनावट तथा प्रकाश और छाया का वैज्ञानिक प्रयोग ।

तीसरी बात जो आभासिक चित्रकला में बहुत ज्वलन्त है, वह उसके चित्रों का धुँधलापन है । अर्थात् इन चित्रों में अधिकतर धुँधले एक-दूसरे में मिलते हुए रंग तथा रूप दिखाई पड़ते हैं । भारत की आधुनिक बंगाल-शैली जिसमें वाश टेकनिक पायी जाती है, इस आभासिक शैली का तीसरा पक्ष है, जिसे बंगाल-शैली में बड़ा प्रमुख महत्त्व मिला है । प्रधानतया यूरोपीय आभासिक चित्रकार टर्नर का भारतीय बंगाल-शैली पर बहुत ही प्रभाव रहा है । यही कारण है कि यद्यपि हमारी सारी भारतीय परम्परा में शुद्ध रंगों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है, परन्तु बंगाल-शैली ने इसकी उपेक्षा की है ।

भारतीय आधुनिक चित्रकारों में स्वर्गीय अमृता शेरगिल, सुधीर खास्तगीर, बम्बई के बेन्द्रे, तथा पी० सेन इत्यादि आभासिक चित्रकला के अनुयायियों में से प्रधान हैं । सुधीर खास्तगीर बंगाल-शैली के स्नातक रहे हैं, परन्तु यूरोप के सम्पर्क में आकर उन्होंने भारतीय आधुनिक चित्रकला में ऊपरी सतह की बनावट टेक्सचर को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया है । इस दिशा में उनका प्रयास प्रशंसनीय है ।

सन् १९१९ ई० में जब प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ, तब तक यूरोप में कला की एक दूसरी ही धारा जो आभासिक चित्रकला का ही एक परिमार्जित रूप थी, पोस्ट इम्प्रेश्निज्म, उत्तर आभासिक चित्रकला के नाम से विख्यात हुई । इसका प्रमुख नेता सेज़ान था । आभासिक चित्रकारों का कहना था कि वे वस्तुओं को उस प्रकार चित्रित नहीं करना चाहते जैसा उसे लोग चित्र में देखना पसन्द करें, बल्कि आभासिक चित्रकार वही रूप चित्रित करता है जैसा उसे वह रूप प्रभावित करता है । परन्तु उत्तर आभासिक चित्रकार इतने से ही सन्तुष्ट नहीं रहे और उन्होंने यह तय किया कि चित्रकार जैसा देखता है वस्तुओं को वैसा ही नहीं चित्रित करेगा, बल्कि जैसा वह वस्तुओं को जानता या समझता है । अर्थात् चित्रकला का रूप अब स्वाभाविक नहीं रहा बल्कि चित्रकार का संसार को देखने तथा समझने का अपना दृष्टिकोण लक्षित होने लगा । जैसे कुछ चित्रकारों ने प्रकृति के रूपों को विभिन्न आकार के घन में देखा और क्यूबिस्ट कला को आरम्भ किया । इस प्रकार की चित्रकला सेज़ान से प्रारम्भ हुई और पिकासो की चित्रकला में उसका पूर्ण रूप विकसित हुआ । उत्तर आभासिक चित्रकारों का मुख्य प्रयास वस्तुओं के आकार में घनत्व लाना था । इसको "थ्री डाइमेंश्नल आर्ट" कहते हैं । इसमें चित्र में वस्तुओं की लम्बाई तथा चौड़ाई के साथ-साथ मोटाई या गहराई को भी चित्रित करने का प्रयास हुआ । उन्नीसवीं शताब्दी की चित्रकला केवल

"टू डाइमेश्नल" थी अर्थात् चित्र में केवल वस्तुओं की लम्बाई और चौड़ाई ही चित्रित हो पाती थी। चित्रकारों ने अपने चित्रों में चित्रित वस्तुओं की मूर्तिकला से तुलना की, जिसमें उन्हें अपने चित्रों के वस्तुओं तथा आकारों में मोटाई तथा गहराई की कमी मालूम पड़ी। इसीको पूरा करना उत्तर आभासिक चित्रकार का मुख्य लक्ष्य रहा।

भारतवर्ष में भी इस प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ, यद्यपि इस शैली के उच्च कोटि के चित्रकार एक भी दृष्टिगोचर नहीं होते। जार्ज कीट के कुछ चित्रों में यह प्रवृत्ति भली-भाँति आभासित होती है। सुधीर खास्तगीर की कला का तो यही आधार बन गया है।

वैसे पिछले १० वर्षों में भारतीय चित्रकला पर सबसे अधिक प्रभाव इसी प्रवृत्ति का पड़ा है। अधिकतर नये चित्रकार जाने-अनजाने आभासात्मक चित्रकला से प्रेरणा लेकर अपने चित्रों में नवीनता लाने का प्रयास कर रहे हैं। किन्तु जिस प्रकार फ्रांस तथा अन्य पाश्चात्य देशों में एक समझे-बूझे निश्चित आधार पर इस शैली का बिकास हुआ है वैसा यहाँ नहीं। यहाँ के चित्रकारों ने इस प्रवृत्ति के मूल सिद्धान्तों को उतना नहीं समझा, बल्कि इस शैली के चित्रों की तकनीकी विलक्षणता से वे अधिक प्रभावित हैं। इसलिए शुद्ध रूप में आभासात्मक चित्रकला यहाँ नहीं है। फिर भी इसके प्रभाव से चित्रकारों पर यह असर तो पड़ा ही है कि चित्र में रंगों को विचित्र प्रयोगों द्वारा प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जाय। इस दृष्टि से तमाम नये प्रयोग आरम्भ हो गये हैं, चित्रकारों ने रंगों का महत्त्व और गहराई से समझना आरम्भ किया है, चित्रों के रूप की विविधता बढ़ गई है साथ ही साथ ऊटपटांग प्रयोगों की भी वृद्धि हुई है और इससे आगे आनेवाले चित्रकारों को खतरा भी है।

वैज्ञानिक प्रवृत्ति

चित्रकला का सम्बन्ध विज्ञान से भी हो सकता है, ऐसा कदाचित् चित्रकारों से कभी सुनने को नहीं मिला। विज्ञान और चित्रकला दोनों एक-दूसरे से सदैव दूर रखे गये हैं। विज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है और चित्रकला (कला) का सम्बन्ध हृदय से है। इसलिए इन दोनों को सदा लोगों ने एक-दूसरे से पृथक् ही रखा। जो व्यक्ति वैज्ञानिक अन्वेषण में लगे हैं, उन्हें लोग कला-क्षेत्र से परे और हृदय के गुणों से अनभिज्ञ समझते हैं। वैज्ञानिकों में मस्तिष्क के गुण दिखाई पड़ते हैं, तो कलाकारों में हृदय के गुण।

वैज्ञानिक का कार्य सृष्टि के मूलों को समझना है और चित्रकार या कलाकार सृष्टिकारक समझा जाता है। यदि यह तथ्य सत्य है तो भी यह समझ में नहीं आता कि बिना सृष्टि के सिद्धान्तों को समझे कोई सृष्टि कर ही कैसे सकता है। सृष्टि करने के पूर्व सृष्टि के मूलों को समझना अत्यन्त आवश्यक है और यदि चित्रकार अपने को सृष्टिकारक समझता है, तो उसके लिए सृष्टि के मूल सिद्धान्तों का अन्वेषण उतना ही आवश्यक है जितना वैज्ञानिक के लिए। इसलिए यह निर्विवाद सिद्ध है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण-रहित कोई चित्रकार सृजनकार या कलाकार नहीं बन सकता। इस प्रकार वैज्ञानिक भी एक कलाकार है और कलाकार के लिए वैज्ञानिक होना भी आवश्यक है। यूरोप के विख्यात चित्रकार लियोनार्डो दा विन्शी का नाम किसने नहीं सुना। अपने समय में (१५ वीं शताब्दी में) जब कि विज्ञान का आरम्भ था और वायुयान, जलपोत, रेडियो एवं आधुनिक यन्त्रों तथा युद्ध सामग्रियों की उत्पत्ति नहीं हो सकी थी, चित्रकार होते हुए भी उसने ऐसे यन्त्रों, मशीनों, शस्त्रों के चित्र बनाये जिनको देखकर आज के वैज्ञानिक भी दाँतों तले उँगली दबाते हैं। वायुयान की कल्पना लियोनार्डो ने अपने चित्रों में की, तत्पश्चात् वायुयान बने। वायुयान बनाते समय वैज्ञानिकों को लियोनार्डो के इन चित्रों को भी देखना पड़ा होगा। आज यदि लियोनार्डो को संसार सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों में स्थान देता है तो उसको एक महान् वैज्ञानिक भी समझता है। लियोनार्डो स्वयं कहता था कि वह चित्रकार ही नहीं हो सकता जो विज्ञान और गणितशास्त्र का ज्ञाता न हो।

भारतवर्ष में चित्रकला और अनेकों कलाओं का स्वर्ण-युग इतिहास में मिलता है और आज भी उस समय की कलाओं के कुछ अद्भुत् नमूने देखने को मिलते हैं। उत्तर में ताज-महल संसार का सर्वश्रेष्ठ स्थापत्य है। उसे कौन एक महान् कलाकृति नहीं समझता, जिसके आगे आज के वैज्ञानिक और इंजीनियरों की बुद्धि ठप्प हो जाती है? आज के वैज्ञानिक तथा इंजीनियर उसे केवल कलाकृति ही नहीं, अपितु उसकी सृष्टि करनेवाले को महान् वैज्ञानिक तथा इंजीनियर भी समझते हैं। दक्षिण भारत में सैकड़ों कलापूर्ण मन्दिर आज भी अपनी शोभा से दर्शकों के चित्त चुरा रहे हैं। उन वैज्ञानिक मूलों और आधारों का, जिनपर इन महान् स्थापत्यों की सृष्टि हुई है, आज का वैज्ञानिक तथा इंजीनियर लोहा मानता है। इन मन्दिरों के रूप, उनकी अलंकरण-व्यवस्था, मूर्तिकला और चित्रकला को देखकर आज का चित्रकार अवाक् रह जाता है। इसका कारण यही है कि उस समय के कलाकार केवल कलाकार ही नहीं, अपितु विज्ञान, गणित शास्त्रादि के भी पण्डित थे।

गोविन्द कृष्ण पिल्लई ने अपनी पुस्तक "शिल्पियों की जीवन-पद्धति' के आरम्भ में ही लिखा है कि "अतीत में जब कला और हस्तकौशल में कोई भेद न था और कलाकार अथवा शिल्पी एक ही व्यक्ति होता था, तब हिन्दू कलाकार, स्थापत्य और मूर्तिकार तीनों के लिए 'शिल्पी' शब्द का व्यवहार करते थे। इन तीनों का गणित और ज्योतिष जैसे विषयों पर अधिकार होता था, वे शिल्पी कला तथा विज्ञान दोनों के पण्डित होते थे। शिल्प-शास्त्र में कला तथा विद्वत्ता दोनों का ही समावेश है। शिल्पशास्त्र के रचयिता भगवान् शिव माने गये हैं जो संसार के सर्व श्रेष्ठ रचयिता हैं, अथवा विश्वकर्मा, जो संसार की समस्त कल्पनाओं तथा विज्ञान के पण्डित हैं।"

अजंता और बाघ आदि की चित्रकला अति प्राचीन होते हुए भी देखने में अभी कल की-सी जान पड़ती है। अजंता के चित्रकार कितने महान् वैज्ञानिक रहे होंगे, जिन्होंने ऐसे रंगों तथा सामग्रियों से अपनी रचना की थी कि वह आज भी नूतन रूप लिये सुरक्षित हैं, उनके रंग फीके नहीं पड़ सके। यही नहीं, उनके चित्रों के मूल में कितना विज्ञान भरा पड़ा है, जिसे समझने के लिए हम कभी प्रयत्नशील नहीं हुए। उनके रंगों का सिद्धान्त, उनके आकारों तथा निर्माण के सिन्द्धान्त कितने वैज्ञानिक थे, अभी हमने अपनी दृष्टि इस ओर नहीं दौड़ायी। यह एक दुःख का विषय है कि उनके सिद्धान्तों के प्रति किसी प्रकार का भी प्राचीन लेख अप्राप्य है और अन्वेषकों ने उस ओर कोई लक्ष्य नहीं किया है।

जिस समय यूनान और रोम विलासिता के झंझावात से प्रताड़ित होकर अपनी समाधि में सो रहे थे, उस समय पराक्रमी गुप्त सम्राटों का आश्रय पाकर भारतीय कला अनेक रूप धारण करके हमारे स्वर्णयुग की रचना कर रही थी। अमर कवियों की लेखनियाँ अमर

वाणी में विश्वविश्रुत अमर काव्यों की रचना करने लगीं, सरस्वती की सोयी हुई वीणा भारत-सम्राटों की उँगलियों में झंकृत होने लगी। अनेक शिल्पी अजंता और एलोरा की निर्जीव शैल-कन्दराओं में छेनी और तूलिका के सहारे उस स्वर्ण-युग का इतिहास लिखने लगे। हमारी वेश-भूषा, चाल-ढाल, रहन-सहन सबका चित्रमय इतिहास लेकर वे पहाड़ियाँ अटल होकर खड़ी रहीं और उन कठोर दस्युओं के हाथों में न पड़ने पायीं जिन्होंने अनेक बार भारत के अर्थ-गौरव के साथ उसके कला-वैभव पर भी छापा मारा है।

अजन्ता के चित्र तत्कालीन समाज के ही साक्षी नहीं हैं, वरन् भारतीयों की कलाप्रियता के भी द्योतक हैं। ब्रह्मा की कला उनके आगे पानी भरती है। उँगलियों की अगणित मुद्राएँ, मनुष्य-शरीर की कोमल भाव-भंगिमाएँ, अद्भुत और असंख्य केशपाश, पुरुषों और स्त्रियों के अगणित हाव-भाव, शोभा के अनन्त साधन, राजसी ऐश्वर्य के अपरिमित ठाट-बाठ—यों कहिए कि अजन्ता की चित्रशाला गुप्त साम्राज्य के अखिल सौन्दर्य, निस्सीम विलास तथा अपार गुणराशि का सजीव मूर्तिमान् कौतुकालय है। रत्नाकर की सम्पूर्ण रत्नराशि उसके आगे झख मारती है, कमल की रमणीयता उसके सौन्दर्य का लोहा मानती है। अजन्ता की गुफाओं को देखकर एकबारगी प्राचीन गौरव मस्तिष्क में घूम जाता है और यह समझने में तनिक भी विलम्ब नहीं लगता कि अब हम कितने तुच्छ हैं, दीन हैं, कंगाल हैं।

इन्हीं कन्दराओं में से सत्रह संख्यक कन्दरा की एक भीत पर किसी कुशल चित्रकार की सिद्ध तूलिका का ललिततम विन्यास सहसा नेत्रों को आकृष्ट कर लेता है। इस विरहाकुल राजकुमारी के चित्र को विदेशी कला-शास्त्रियों ने भूल से मरणासन्न राजकन्या की संज्ञा देते हुए कहा है कि राजकन्या की झुकी हुई आँखों में सांसारिक दृष्टि समाप्त हो चुकी है, प्यार भरी अन्तिम विदा के रूप में उसकी उँगलियाँ पास बैठी हुई कन्या के हाथ पर झूल गयी हैं और वह कन्या आशंका, अविश्वास तथा जिज्ञासा के मिश्रित भावों से व्यग्र होकर व्यर्थ ही उस हृदय-विदारक विपत्ति का फल जानने को उत्सुक है। अन्तिम बार झुके हुए अंग मृत्यु की विजय की घोषणा कर देते हैं और वह अवर्णनीय दुःख चारों ओर बैठी हुई सेविकाओं के मुखों पर व्यक्त भावों से और भी स्पष्ट होकर प्रतिबिम्बित होने लगता है।

इस चित्र के विषय में ग्रिफिथ महोदय ने ठीक ही कहा है कि—"करुणा और मनोवेग तथा अपनी कथा कहने की निर्भ्रान्त शैली की दृष्टि से यह चित्र कला के इतिहास में अप्रतिम है। सम्भव है फ्लोरेंटाइन वाले इसमें सुन्दरतर रेखाएँ डाल देते और वेनिस वाले भव्यतर रंग भर देते, किन्तु उनमें से कोई भी इससे सुन्दर भाव नहीं भर सकता था।"

आधुनिक भारत की चित्रकला अन्धकार में है । कुछ दिनों तक चित्रकारों ने अजंता, राजपूत और मुगल-चित्रकला को आधार मानकर कार्य किया । टैगोर स्कूल ने अपना सम्पूर्ण समय इसी में व्यतीत किया, पर यह ज्ञात न हो सका कि किन वैज्ञानिक आधारों पर ये चित्र निर्मित है । वैज्ञानिक की भाँति चित्रकार इन आधारों का निरूपण न कर सके, जिससे बंगाल विद्यालय या टैगोर विद्यालय की आधार-शिला दृढ़ न हो सकी और वह नन्दलाल बसु तथा क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार ऐसे चित्रकारों के होते हुए भी अग्रसर न हो सका, न आज के चित्रकारों का एक निश्चित पथ-प्रदर्शन ही कर पा रहा है । अनेक चित्रकार आगे आ रहे हैं, पर कोई भी निश्चित मार्ग नहीं अपना रहा है । भारत की आधुनिक कला केवल एक उलझन मात्र-सी सिद्ध होती जा रही है । या तो चित्रकार यूरोप की आधुनिक कला का अंधाधुन्ध अनुकरण कर रहे हैं अथवा झूठ-मूठ प्राचीन चित्रकला के अनुयायी होने का दंभ भर रहे हैं । तात्पर्य यह कि कला का रूप विकृत हो गया है ।

वीसवीं शताब्दी एक वैज्ञानिक युग है । आज के शिक्षित भारतीय चित्रकार युग से प्रभावित हो चुके हैं और अंधकार से बाहर निकलने के लिए व्याकुल हो उठे हैं । आशा है, शीघ्र ही उनको सत्पथ का दर्शन होगा और वे अपने उद्देश्य में सफल होंगे । इस समय उनपर सबसे बड़ा उत्तरदायित्व अन्वेषण का है । उन्हें अपनी प्राचीन भूली हुई कला के आधारों, मूलों को खोज निकालना होगा और उसी पर अपनी कला की आधार-शिला स्थापित करनी होगी ।

संगीत और चित्रकला में आन्तरिक एकता और समानता है । आज भी भारतीय संगीत अपना एक उच्च स्थान बनाये हुए है । इनका कारण सम्भवतः यही है कि वह अब भी अपने प्राचीन आधारों पर स्थित है और वैज्ञानिक ढंग पर आगे बढ़ रहा है । संगीत-कला के विषय में प्राचीन प्रमाण भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं और उनकी प्राचीन परम्परा जीवित है । यदि हम चित्रकला के वैज्ञानिक आधारों का अन्वेषण नहीं कर पाते हैं तो हमें संगीत-कला के विज्ञान से चित्रकला की तुलना कर सहायता लेनी होगी ।

संगीतकला में जिस प्रकार स्वरों का एक विज्ञान और गणित होता है, उसी भाँति चित्र-कला की भाषा, रंग तथा रूप का भी एक विज्ञान और गणित होना चाहिए ? संगीत में जैसे स्वरों के निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रभावों का निरूपण है, उसी प्रकार हमें रंग और रूप के निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रभावों को ढूँढ़ना तथा निश्चित करना पड़ेगा । इस प्रकार चित्रकला के सभी आधार वैज्ञानिक हो जायेंगे और उसमें एक अद्भुत शक्ति उत्पन्न हो जायेगी, जिससे चित्रकला समाज की सेवा करते हुए देश के सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने में भी
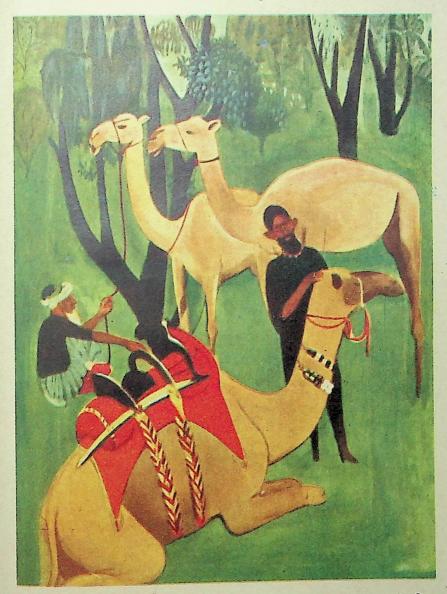
ऊंट

चित्रकार—अमृता शेरगिल

समर्थ होगी। परन्तु यह तभी संभव हो सकता है, जब हम उसके अन्वेषण का एक निश्चित मार्ग स्थिर कर लें। चित्रकला के मुख्य अंग हैं, रूप, रंग, रेखा और इन सब का संयोजन। इनमें प्रत्येक का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। लाल रंग का उष्ण प्रभाव पड़ता है, तो हरे रंग का शीतल। पड़ी रेखा मन को शान्ति तथा निश्चलता प्रदान करती है, तो खड़ी और तिरछी रेखाएँ मन को ऊपर की ओर अग्रसर करती और चंचलता प्रदान करती है। लघु रूपों को देखकर वस्तुओं की दुर्बलता प्रतीत होती है। बड़े रूपों तथा वृहद् आकारों को देखकर दृढ़ता, शक्ति तथा महानता का बोध होता है, जैसे कि हिमालय पर्वत को देखकर। सरल संयोजन का मन पर सीधा तथा सुहावना प्रभाव होता है तो जटिल संयोजन मन को जटिलता (उलझन) में डाल देता है। नदी को देख कर चंचलता, ओछापन प्रतीत होता है तो सागर को देखकर गहराई और महानता। इसी प्रकार सृष्टि के प्रत्येक रूप का विभिन्न प्रभाव पड़ता है। इन्हीं प्रभावों को वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से खोज निकालना और उनका अपने चित्रों में उपयोग करना भावी चित्रकार के अनुसंधान तथा रचना का कार्य होगा। इसी को सत्य कहते हैं और कला में "सत्यं, शिवम्, सुन्दरम्" का तात्पर्य भी यही है। यही सृष्टि का आधार है, इसको खोज निकालना कलाकार का कर्त्तव्य है और इसके अनुसार सृष्टि करना उसका लक्ष्य है।

यहाँ अन्य वैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है जिनसे हमारे कथन की पुष्टि होगी। इसमें सन्देह नहीं कि चित्रकारों की सफलता वैज्ञानिक तथ्यों के मूल में है। संसार के अन्य विज्ञानों में आज इतना चमत्कार क्यों है? उदाहरण के लिए ज्योतिष-विज्ञान को लीजिए। ग्रह, नक्षत्र, तारों के विभिन्न रंगों के कारण उनके भिन्न-भिन्न प्रभाव आये दिन प्रकट होते जा रहे हैं। रंगों के प्रभाव में एक मनोवैज्ञानिक आधार छिपा है। रंगों का प्रभाव कितना व्यापक होता है, इसे हम विभिन्न रंगों की पानी से भरी बोतलों से जान सकते हैं। रंगीन बोतलों का यही जल कालान्तर में औषधि बनकर कितने ही असाध्य रोगों से मुक्ति दिलाता है। क्या यह रंगों का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है? रंगों के प्रभाव की व्यापकता का अनुभव जड़ाऊ अँगूठी से भी सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। उदाहरणार्थ नीलम की अँगूठी लीजिए। इसके रंगों का ही यह प्रभाव है कि इसके धारण करने से ग्रहों का शमन होता है।

रंगों के मनोवैज्ञानिक तथ्य का निरूपण एक मेल के दो कमरे से आसानी से हो सकता है। एक कमरा लाल और दूसरा हरे रंग का है। दोनों में तापक्रम समान है, फिर भी हरे कमरे में हम शीतलता और लाल कमरे में उष्णता का अनुभव करते हैं। हिम की शीतलता हम नेत्र से नहीं, अपितु स्पर्शमात्र से करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि रंगों के

भीतर एक मनोवैज्ञानिक आधार है जिसका सम्बन्ध हमारी दृष्टिचेतना से है। किस विशेष रंग का कितना और कैसा प्रभाव है, इसका विश्लेषणात्मक ढंग से पता लगाना ही आधुनिक चित्रकार का मुख्य प्रयोजन होना चाहिए, जिससे वह कला के क्षेत्र में प्रभावशाली क्रान्तिकारी कला के वास्तविक स्वरूप का दर्शन जड़-चेतन सब को समान रूप से करा सके। इस प्रकार वह रंग-रूप के उचित संयोजन से अपनी कलाकृति में वह प्रभाव उत्पन्न कर देगा कि उसे देखते ही दर्शक अपने अन्तःकरण को उस रंग-रूप से रँग लेगा। दूसरे शब्दों में यह कि चित्रित विषयों के क्रोध, करुणा, शान्ति आदि मनोवेगों का हमारे हृदय पर तत्काल प्रभाव होने लगेगा और कुछ काल के लिए हम आत्मविभोर हो उठेंगे।

वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भारतीय कलाकारों में स्वर्गीय अमृता शेरगिल, यामिनी राय तथा राचशु के चित्र उल्लेखनीय हैं। फिर भी वैज्ञानिक दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर कोई सुदृढ़ चित्र शैली इधर-दिखाई नहीं देती, यद्यपि आधुनिक चित्रकार जाने-अनजाने वैज्ञानिक प्रवृत्ति को अपना रहे हैं। आज के चित्रकारों की प्रयोगात्मक प्रवृत्ति देखकर यह कहा जा सकता है कि निश्चय ही एक दिन ऐसा आयेगा जब भारतीय चित्रकला वैज्ञानिक ढंग से प्रगति करना आरम्भ करेगी। अभी तो हमने वैज्ञानिक प्रभावों को लेना आरम्भ ही किया है। वैज्ञानिक दृष्टि से हमारा तात्पर्य यही है कि चित्रकार सोच समझकर नये प्रयोगों के आधार पर अपनी चित्रकला को और भी परिपक्व रूप प्रदान करे। वैसे विज्ञान के प्रादुर्भाव के कारण हमारे जीवन में जो परिवर्तन आ रहे हैं उनसे तो हमारे अधिकतर चित्रकार प्रभावित दिखाई पड़ते हैं और इस प्रकार के काफी चित्र इधर दिखाई पड़ रहे हैं।

अभिव्यंजनात्मक प्रवृत्ति

आधुनिक चित्रकला जो हमारे सम्मुख एक पहेली के रूप में जान पड़ती है, उसका एकमात्र कारण यह है कि हमने अभी यह सोचा ही नहीं कि इस प्रकार की चित्रकला का आधार क्या है। हम अब तक यही सोचते आये हैं कि चित्रकला प्रकृति के यथातथ्य स्वरूपों को अंकित करने का एक माध्यम है, या किसी कथा-कहानी को रूप और रंगों के माध्यम से वर्णन करना है। ये दोनों ही दृष्टिकोण आधुनिक चित्रकला में नहीं पाये जाते। हम आधुनिक चित्रकला में इन्हें खोजने का प्रयास करते हैं, परन्तु परिणाम तक नहीं पहुँचते और वे केवल एक पहेली बनकर रह जाते हैं। दर्शक इन्हें अपनी योग्यतानुसार समझने का प्रयत्न करता है।

भारत की प्राचीन चित्रकला अधिकतर वर्णनात्मक शैली के रूप में हमारे सामने आती है। कोई कथा-कहानी या जीवन-चरित्र ले लिया जाता था, जिसके एक दृश्य का अंकन चित्रकार अपने चित्रों के द्वारा करता था। ब्राह्मण-काल में देवी-देवताओं के चरित्रों का अंकन, बौद्ध तथा जैन चित्रकला में महात्मा बुद्ध तथा महावीर की जीवनियों का आलेखन या उनके बारे में प्रचलित जातक कथाओं इत्यादि का चित्रण करना ही उस समय के चित्रकारों का मुख्य ध्येय था। मुगल-कला भी फारसी तथा ईरानी कला की भाँति कथाओं के वर्णन करने में ही आगे बढ़ी। बाद में दरबारी चित्रों का अधिक प्रचार हो गया था। राजपूत-कला भी अधिकतर वर्णनात्मक ढंग ही अपनाये रही। आजकल भारत का सम्बन्ध धीरे-धीरे पाश्चात्य देशों से अधिक घनिष्ठ होता जा रहा है। विदेशी प्रगति की प्रतिस्पर्द्धा से भारत भी अपना कदम आगे रख रहा है। यूरोप में कला, साहित्य तथा विज्ञान में जिन नयी धाराओं का आगमन हो रहा है उनका प्रभाव यहाँ भी भली-भाँति पड़ रहा है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि यहाँ केवल वहाँ का अन्धाधुन्ध अनुकरण हो रहा है। शायद इस युग का अपना एक सन्देश है जो प्रत्येक आधुनिक देश में व्याप्त हो रहा है। अस्तु, उसी प्रकार की चेतना का यहां भी अनुभव हो रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी को वैज्ञानिक युग कहा गया है और बीसवीं शताब्दी को आधुनिक

विद्वान् मनोवैज्ञानिक युग समझते हैं । इस शताब्दी में जितना प्रादुर्भाव मनोविज्ञान का हुआ है उतना और किसी वस्तु का नहीं । आज मनोवैज्ञानिक युद्ध हो रहे हैं, मनोवैज्ञानिक आधार पर साहित्य का निर्माण हो रहा है, मनोवैज्ञानिक ढंग से व्यापार हो रहा है, मनोविज्ञान से चिकित्सा हो रही है और नित्य प्रति के व्यवहार की परख भी हम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से कर रहे हैं । आधुनिक शिक्षा का तो मनोविज्ञान आधार ही बन गया है । कुछ लोग तो मनोविज्ञान को शिक्षा ही समझते हैं । ऐसी अवस्था में कला भी मनोवैज्ञानिक न हो, यह असंभव है ।

आधुनिक चित्रकला मनोवैज्ञानिक है । चित्रकार मनोवैज्ञानिक ढंग से अपने चित्र बनाता है । मनोविज्ञान वह विद्या है जिसके द्वारा हम यह स्थिर करते हैं कि 'ऐसा क्यों होता है ? या इस कार्य या व्यवहार का कारण क्या है ? अर्थात् हम यह पहले सोचते हैं कि अमुक कार्य क्यों होता है ? मनुष्य के व्यवहारों का कारण ज्ञात करना, जैसे वह स्वप्न क्यों देखता है, वह अप्रसन्न क्यों होता है, वह धार्मिक क्यों बनता है, वह ज्ञान का उपार्जन क्यों करता है इत्यादि । चित्रकला भी मनुष्य का एक कार्य है । मनोविज्ञान इसका भी उत्तर देता है कि मनुष्य चित्रकला का कार्य क्यों करता है ।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि प्रत्येक मनुष्य में आत्म-अभिव्यक्ति तथा सहज क्रियात्मक वृत्ति अवश्यम्भावी है, जो उसकी जन्मजात प्रवृत्ति है और इसी के फलस्वरूप वह रचना भी करता है । मनुष्य जब कोई वस्तु देखता है तो उसके हृदय के भीतर आन्दोलन होता है । उसकी सहज-क्रियात्मक प्रवृत्ति उस अनुभव को व्यक्त करने के लिए उसे प्रेरित करती है । इस प्रकार वह अपने चित्र में उन्हीं उद्वेगों तथा मनोवेगों की अभिव्यक्ति करना अपना लक्ष्य बनाता है; अर्थात् उसके हृदय में जो हलचल हुई उसी का प्रतिरूप बाहरी स्वरूपों के आधार पर निर्मित कर उनकी अभिव्यक्ति करता है ।

इस प्रकार एक ही वस्तु को देखकर विभिन्न चित्रकारों में विभिन्न भावनाएँ, मनोवेग या उद्वेग उठ सकते हैं । चाँद को देखकर एक मनुष्य प्रसन्नता का बोध करता है जब वह संयोगावस्था में हो, परन्तु वही चाँद दूसरे को वियोगावस्था में दुःखदायी हो सकता है । दोनों व्यक्तियों को वही चाँद भिन्न-भिन्न उद्वेग प्रदान करता है । अर्थात् चाँद से अधिक महत्त्वपूर्ण उन दोनों व्यक्तियों की अपनी-अपनी मानसिक अवस्थाएँ हैं । इस प्रकार यदि दो चित्रकार चाँद को चित्रांकित करें तो उनका उसे व्यक्त करने का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होगा । अर्थात् बाहरी वस्तु से अधिक महत्त्वपूर्ण मनुष्य के मन में छिपी भावना है । यही कारण है कि विविध भावनाओं के कारण विविध प्रकार के चित्रकार हैं और उनकी विविध शैलियाँ हैं ।

आधुनिक चित्रकार जब किसी प्रभावोत्पादक वस्तु या दृश्य को देखता है तो उसके मन में हिलोरें उठने लगती हैं। वह उस वस्तु या दृश्य के प्राकृतिक बाह्य रूप को भूल जाता है और उसी तरंग के आधार पर उस वस्तु का एक परिमार्जित रूप देखता है। यही परिमार्जित रूप उसकी चित्रकला में आ जाता है। यह उस बाह्य वस्तु या दृश्य का प्राकृतिक रूप नहीं होता, वस्तुतः चित्रकार ने उसे जिस रूप में देखा उसका प्रतीक होता है। ऐसा भी हो सकता है कि जो वस्तु उसकी इस तरंग का कारण हो, वह चित्र में बिलकुल गौण हो जाय या एक विकृत रूप में दूसरों को दिखाई दे। ऐसी स्थिति में यदि कोई उस रूप की उसके प्राकृतिक रूप से तुलना करे तो बिलकुल निरर्थक होगा। परन्तु कलाकार द्वारा निर्मित यह रूप एक सामाजिक रूप होगा, ऐसा भी कहना कठिन है। वहाँ दर्शक को उसी उमंग, तरंग या मनोवेग से उसका आनन्द लेना होगा जिन मनोवेगों की अन्तर्दशाओं से होकर चित्रकार हमारे सामने आया है, और यह तभी हो सकता है जब दर्शक चित्रकार के साथ तथा उसके चित्र के साथ सहानुभूति रखे, उसके हृदय से एकता स्थापित करे। यदि हम ऐसा नहीं करते और केवल वस्तुओं के वाह्य प्राकृतिक रूप तक ही अपने को सीमित रखते हैं तो हमारे लिए यह चित्र वही पहेली की पहेली बने रह जायेंगे।

उपर्युक्त कथन के आधार पर ही, आधुनिक चित्रकला की एक प्रबल शैली अग्रसर हो रही है और इसी को आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकला कहते हैं। आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकला प्रकृति के बाह्य रूप या इन्हीं रूपों पर आधारित किसी सूक्ष्म धारणा को चित्रित न कर चित्रकार के मनोभाव की अभिव्यक्ति करती है। यह शैली स्वभावतः व्यक्तिगत है और यह किसी समय या देश की परिधि में बाँधी नहीं जा सकती। इस प्रकार की चित्रकला अफ्रीका निवासियों की नीग्रो कला तथा प्राचीन प्रागैतिहासिक पाषाण-युग की भारतीय कला में भी पायी जाती है। मोहनजोदड़ो तथा हरप्पा की कला भी इसी प्रकार की थी। आधुनिक यूरोप में इस कला का आज अत्यधिक प्रचार है और फ्रांसीसी चित्रकार वान गाग से इसका प्रारम्भ माना जाता है।

भारतीय आधुनिक कलाकारों में इस प्रकार की चित्रांकन-प्रवृत्ति हमें सर्वप्रथम स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा स्व० गगनेन्द्रनाथ की कृतियों में दिखाई देती है। आज ऐसे अनेक चित्रकार सामने आ गये हैं जिनके चित्रांकन की आधार-भित्ति इन्हीं भावनाओं के मसाले से बनी है। इस दृष्टि से आधुनिक चित्रकारों में हुसेन, सतीश गुजराल, रामकुमार, इत्यादि अनेक चित्रकार सामने आये हैं। वास्तव में इस समय, अधिकतर नये चित्रकार इसी प्रवृत्ति से सबसे अधिक प्रभावित दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि स्वच्छन्दता की इसमें पूरी गुंजाइश है।

स्वप्निल प्रवृत्ति

आज का मनोवैज्ञानिक युग स्वप्न सम्बन्धी अन्वेषणों में सतत् प्रयत्नशील है। पाश्चात्य विद्वान् फ्रायड तथा युंग ने स्वप्न की बड़ी महत्ता बतायी है और उसका खूब प्रचार किया है। भारतवर्ष में भी सदियों से जीवन में स्वप्न का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आधुनिक विद्वान् स्वप्न को समझाते हुए कहते हैं कि जाग्रत या चेतन अवस्था में जो कार्य हम नहीं कर पाते, उन सुप्त इच्छाओं को हम अपने स्वप्न में पूर्ण करते हैं। स्वप्न का एक ऐसा प्रदेश है जहाँ कोई सांसारिक या सामाजिक बन्धन नहीं होता; वहाँ हम पूरे स्वतन्त्र होते हैं। प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र होना चाहती है और जीवन में उसे स्वतंत्रता के स्थान पर परतंत्रता दृष्टि-गोचर होती है, तब स्वप्न ही एक सहारा रह जाता है। वैसे तो कतिपय विद्वान् जीवन को भी स्वप्न समझते हैं, परन्तु जो स्वतंत्रता हमें स्वप्न में दृष्टिगोचर होती है वह जीवन में प्राप्त नहीं है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक स्वप्न को भी जीवन के अन्तर्गत ही समझते हैं और स्वप्निल प्रदेश में भी जो कार्य हम करते हैं उसका पूरा उत्तरदायित्व हमारे ऊपर ही रहता है, वह कार्य भी हमारे अचेतन मस्तिष्क का ही है और हमारा है।

आधुनिक चित्रकला में भी स्वप्न का यही स्थान है। परन्तु स्वप्निल चित्रकला का अर्थ यह नहीं कि हम सोये हुए अचेतन अवस्था में जो चित्रकला करें वही स्वप्निल चित्रकला होगी। स्वप्निल चित्रकला का तात्पर्य यह है कि जाग्रत अवस्था में भी चित्र-निर्माण करते समय चित्रकार इतनी अधिक स्वतंत्रता का आभास करे जितना वह सो कर अचेतन अवस्था में स्वप्न में करता है, और इसी अवस्था में कला की रचना करे। आधुनिक चित्रकला की सबसे बड़ी विशेषता उसकी पूर्ण स्वतंत्रता ही है। स्वतंत्र होने की भावना चित्रकार में सबसे पहले होती है, क्योंकि मनुष्य की कल्पना पूर्ण स्वतंत्र है। कल्पना कला का आधार है और स्वप्न भी अचेतन अवस्था की कल्पना है। इसलिए जिस तरह चित्रकार को कल्पना प्रिय है, उसी भाँति स्वप्न की कल्पना भी।

प्राचीन काल में साहित्य में स्वप्न का बड़ा महत्त्व था। पुराणों तथा जातक कथा, कहा-नियों में भी स्वप्न के ही ऊपर कल्पना रहती थी। चित्रकला में भी स्वप्न के चित्र मिलते

हैं, जैसे गौतम बुद्ध की माता महामाया का स्वप्न, जिसमें उन्होंने एक श्वेत हाथी को शिशु-गौतम के रूप में जन्म लेते हुए अपने यहाँ देखा। यह चित्र सारनाथ के चित्रकला विहार में भी है। परन्तु प्राचीन कला में अधिकतर स्वप्नों का वर्णनात्मक रूप ही मिलता है। आधुनिक कला में चित्रकार किसी स्वप्न का वर्णन नहीं करता, प्रत्युत् जान-बूझकर अपनी मन:स्थिति को ही वह उस अवस्था में पहुँचाता है जैसी स्थिति स्वप्न आने के समय होती है और उसी अवस्था में वह तत्पर हो चित्रांकन करता है। ये चित्र उसकी इस मन:स्थिति के प्रतीक होते हैं। इन चित्रों में साधारण चित्रों की अपेक्षा बुद्धिजनक, विवेकपूर्ण ज्ञान का अभाव रहता है, अर्थात् साधारण मानसिक ज्ञान के विपरीत ही इसमें चित्रण मिलता है। इस प्रकार के विवेकहीन असाधारण चित्रों का प्रादुर्भाव जितना इस शताब्दी में हुआ है उतना पहले कभी नहीं हुआ। हम इस चित्रकला को विवेकहीन समझकर ठुकरा नहीं सकते, क्योंकि आधुनिक बुद्धिवादी वैज्ञानिक युग ने ऐटम, विस्फोटक बम तथा सृष्टि-विलयकारक यंत्र और शस्त्र बना डाले हैं। इस प्रकार के बुद्धिवादी विकास से बचने का एक उपचार स्वप्निल चित्रकला भी है।

भारतवर्ष में इस प्रकार की स्वप्निल चित्रकला की शैली का प्रारम्भ श्री गगनेन्द्रनाथ ठाकुर से होता है। यद्यपि आरम्भ में बहुत थोड़े-से चित्रकारों ने इस शैली को अपनाया, क्योंकि उसी समय डॉ० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने बंगाल से एक भिन्न ही प्रकार की शैली का प्रचार बड़े वेग से आरम्भ कर दिया था, गगनेन्द्रनाथ ठाकुर की कला का अधिक प्रचार न हो पाया और शायद उन्होंने इसके लिए प्रयत्न भी अधिक नहीं किया, परन्तु आज इस शैली से प्रभावित अनेकों नवयुवक कलाकार सामने आ रहे हैं। बंगाल के कल्याण सेन, बम्बई के जार्ज कीट, प्रयाग के रबि देव तथा काशी के राचशु, इत्यादि उस क्षेत्र में काफी कार्य कर चुके हैं। डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भी बहुत से चित्र इसी भावना से प्रभावित रहे हैं। गगनेन्द्रनाथ ठाकुर की "श्वेत नौका", कल्याण सेन का "स्वप्न मिलन" तथा राचशु का "मृत्यु के नेत्र" उल्लेखनीय हैं।

स्वप्नगत चित्रांकन करनेवाले चित्रकार अपने सामने चित्र बनाने की सभी सामग्रियाँ, लेकर शान्तचित्त बैठ जाते हैं और उमंग के झोंक में वे चित्रांकन आरम्भ कर देते हैं। उनकी तूलिका विद्युत्-गति से चलती रहती है जब तक कि चित्र बनकर तैयार नहीं हो जाता। ऐसे चित्रों के बनाने में समय भी अधिक देना आवश्यक नहीं है। चित्रकार स्वयं नहीं जानता कि वह अपने चित्र में क्या बनाने जा रहा है। तूलिका चलती रहती है और कुछ रूप तथा आकार चित्र में बनते जाते हैं। चित्रकार स्वयं यह नहीं सोचता कि वह अब कौन-सा आकार बनाये। वह एक बनाता है, दूसरा अपने आप आरम्भ हो जाता है। उसे यह भी नहीं सोचना

पड़ता कि वह किस स्थान पर कौन सा रंग लगाये, यह कार्य भी अपने आप ही होता है। उधर उमंग की समाप्ति होते-होते वह काम रोक देता है, इधर चित्र तैयार हो गया। ऐसे चित्र देखने पर चित्रकार स्वयं आश्चर्य में पड़ जाता है कि उसने यह सब क्या बनाया और क्यों बनाया ? इस प्रकार के चित्रों की प्रेरणा कहाँ से आयी? स्वयं चित्रकार भी यह नहीं सोच पाता।

ऐसे चित्रों में जो रूप होते हैं कभी-कभी वे एक दूसरे से अधिक सम्बद्ध भी नहीं होते, एक ही चित्र में बिलकुल भिन्न-भिन्न एक दूसरे से कोई सम्बन्ध न रखनेवाले रूप होते हैं। जैसे चित्रकार ने मनुष्य का मुख बनाते, धीरे-धीरे ग्रीवा तक आते-आते एक चर्खा बना डाला, चर्खे का डोरा बनाते-बनाते एक कुर्सी बन गयी, जिसका पूरा रूप बन भी नहीं पाया था कि उसकी एक टाँग ने चिड़िया का रूप धारण कर लिया, और चिड़िया का सिर मोटर का एक टायर बन गया। इस प्रकार चित्रकार अपने को एक प्रकार का रेडियो यंत्र बना लेता है, कहीं से आवाज हुई वह बोलने लगा। अर्थात् चित्रकार का हाथ एक मशीन की भाँति कार्य करता है, उसका मन या मस्तिष्क भी एक मशीन की भाँति कार्य करता है। मनोविज्ञान इस बात की पुष्टि करता है कि यदि हम अपने भावों को विवेक के साथ एकाग्र करना छोड़ दें तो उस मस्तिष्क पर चलचित्र की भाँति क्षण-क्षण पर विभिन्न रूप में तीव्र गति से विचार तथा रूप आते-जाते हैं। इस प्रकार यदि हम इन चित्रों की चलचित्रों से तुलना करें तो गलत न होगा। वैसे तो चलचित्रों में विवेक होता है, पर यहाँ तुलना केवल गति से की जा रही है। इस प्रकार के चित्रों में चित्रकार बड़ी सरलता से वर्त्तमान समाज, इसका विकृत रूप तथा अपने मन में उठी प्रतिक्रियाओं का सुन्दर चित्र बना पाता है। सचमुच ऐसे चित्रों का मूल्य आज के समाज में बहुत अधिक है जबकि मनुष्य बाहर से कुछ और तथा भीतर से कुछ और है। चित्रकार अपने चित्रों के द्वारा भीतर और बाहर को एक कर देना चाहता है। यही है स्वप्निल चित्रकला का उद्देश्य।

इन चित्रों में रूप प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक होते हैं। ऐसे चित्रों का आनन्द इन प्रतीकों तथा लक्षणाओं को समझने पर ही मिल सकता है। इनका मनोवैज्ञानिक निरूपण आवश्यक है। वैसे स्वप्निल चित्रकला का बहुत अधिक प्रचलन अभी तक भारतीय चित्र-कारों में नहीं हो पाया है, क्योंकि अभी भी लोग या तो परम्परा के शिकंजो से नहीं निकल पाये हैं या फिर यथार्थवादी प्रवृत्ति उन्हें जकड़े हुये है। अधिकतर भारतीय चित्रकारों का झुकाव रंगों के नये प्रयोगों की ओर अधिक है।

काल्पनिक प्रवृत्ति

कल्पना कला की सृष्टि का आधार है। कला की रचना बिना कल्पना के संभव ही नहीं है। फिर तो हम कह सकते हैं कि सभी कला की शैलियाँ काल्पनिक होती हैं और इसके अतिरिक्त कोई दूसरी शैली नहीं हो सकती। आलंकारिक चित्रकला, विषय-प्रधान चित्रकला या सूक्ष्म चित्रकला सभी में कल्पना की आवश्यकता है। इसलिए सभी चित्रकलाएँ काल्पनिक हैं। इस प्रकार काल्पनिक चित्रकला को हम कोई विशिष्ट शैली नहीं कह सकते। परन्तु सुविधा के लिए आधुनिक युग के विभिन्न बहुमुखी चित्रकारों की कृतियों का मूल्यांकन कर सकने के हेतु हमें उनके चित्रों को विभिन्न कोटि में रखना ही पड़ता है और उनका नामकरण करना पड़ता है।

काल्पनिक चित्रकला से हमारा तात्पर्य आधुनिक चित्रकला की उस शैली से है, जिसमें चित्रकार प्रकृति की वस्तुओं का आँखों देखा वर्णन नहीं करता बल्कि कल्पना के आधार पर एक नये संसार की सृष्टि करता है। यह नया संसार, कलाकार का अपना संसार है, अर्थात् अनुभव, कल्पना, तथा रुचि के अनुसार ही वह प्रकृति की वस्तुओं में परिवर्तन करता है या उन्हें परिमार्जित करता है, जैसे मनुष्य की स्वर्ग की कल्पना या चन्द्रलोक की कल्पना इत्यादि। मनुष्य ने स्वर्गलोक देखा नहीं, चन्द्रलोक सचमुच कोई लोक होगा? जानता नहीं, पर वहाँ कैसा लोक होना चाहिए इसकी कल्पना करता है। एक शराबी यदि चन्द्रलोक की कल्पना करे, तो वह उसे एक मधुशाला का रूप देगा और हाला, प्याला तथा साकी ही उसे घूमते फिरते कल्पना में दृष्टिगोचर होंगे। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार इन लोकों की विभिन्न कल्पना करेगा। यह कल्पना उसकी इच्छा का एक बाह्य रूप है।

इसी प्रकार चित्रकार भी स्वर्गलोक, स्वप्नलोक, या चन्द्रलोक की कल्पना कर सकता है। इसी के आधार पर वह चित्र बनाता है। शराबी की कल्पना की अपेक्षा चित्रकार की कल्पना क्रियात्मक होती है या उसे हम निर्माणकारी कल्पना कह सकते हैं। मान लीजिए वह चन्द्रलोक की कल्पना करता है, इसका यह तात्पर्य नहीं कि जिन वस्तुओं को इस लोक में वह देखता है या पसन्द करता है उन्हीं को अधिक मात्रा म वह चन्द्रलोक में चित्रित करेगा।

ऐसा भी हो सकता है, परन्तु चित्रकार केवल यही नहीं करता। वह इस लोक की सुन्दर वस्तुओं का या रुचिकर वस्तुओं का ज्ञान तो रखता है, परन्तु उन्हें ही वह चित्र में वैसे का वैसा नहीं रखता। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु के रूप को वह वैसे का वैसा ही पसन्द नहीं करता, प्रत्युत अपनी कल्पना को उन वस्तुओं पर दौड़ाता है और सोचता है कि यह रूप कैसा होता कि उसे और अधिक पसन्द आता ? अर्थात् वह प्रकृति के रूपों को अपनी कल्पना और रुचि के अनुसार परिमार्जित कर और अधिक सुन्दर बनाना चाहता है। अथवा उसके मस्तिष्क में पहले एक भाव या विचार आता है; उसी विचार के आधार पर वह प्रकृति के रूपों को परिवर्तित करना चाहता है। वह एक अपना आदर्श बनाता है और उसी दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु को देखता है। इसीलिए इस प्रकार की चित्रकला को आदर्शवादी भी कह सकते हैं। अन्य कला-आलोचकों ने इस प्रकार की कला को आदर्शवादी ही कहा है। समस्त प्राचीन भारतीय चित्रकला इसी नाम से सम्बोधित की जाती है।

आधुनिक चित्रकला में उपर्युक्त विचार भी काल्पनिक चित्रों की कोटि में आते हैं, परन्तु आज इस विचार का एक परिमार्जित रूप ही काल्पनिक चित्रकला के नाम से सम्बोधित किया जाता है। काल्पनिक चित्रों में केवल प्रकृति के रूपों का परिमार्जन ही नहीं होता, बल्कि कल्पना के आधार पर नये रूपों तथा वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। विश्वविख्यात चित्रकार लियोनार्डो दा विंशी ने अपने चित्रों में कुछ ऐसे जानवरों, पशु-पक्षियों का चित्र अपनी कल्पना से बनाया है जैसे प्रकृति में नहीं मिलते। प्राचीन भारतीय चित्रकारों ने भी नरसिंह, गणेश और इसी प्रकार के अनेक नये रूपों (देवी-देवताओं, अवतारों) की कल्पनाएँ की थीं जो प्रकृति में नहीं मिलते। परन्तु आधुनिक चित्रकार इतने से सन्तुष्ट नहीं होते, वे केवल नये रूप ही नहीं बनाते बल्कि उसी प्रकार के नये रूपों से अपने सम्पूर्ण चित्र का विलक्षण संयोजन करते हैं।

काल्पनिक चित्रकार यह भी आवश्यक नहीं समझता कि जो रूप वह बनाये वह प्रकृति के विभिन्न रूपों का सम्मिश्रण हो, जैसे—नरसिंह या गणेश का रूप। नरसिंह के रूप में सिर सिंह का, शरीर मनुष्य का है; उसी प्रकार गणेश का सिर हाथी का, शरीर मनुष्य का। इस प्रकार के संयोजन में चित्रकार सृष्टि की दो विभिन्न वस्तुओं या रूपों का अपनी कल्पना के आधार पर सम्मिश्रण करता है। परन्तु आधुनिक चित्रकार इतना ही नहीं करना चाहता, प्रत्युत वह एक अभूतपूर्व जीव या वस्तु कल्पना के सहयोग से बनाना चाहता है। इस कार्य में सफल होने के लिए पहले चित्रकार को प्रकृति के रूपों के मूल को समझना पड़ता है, वह प्रकृति के रहस्य का भली-भाँति अध्ययन करता है और यह समझने का प्रयत्न करता है कि प्रकृति में रूप किस आधार पर बनते-बिगड़ते हैं। इस सिद्धान्त को समझकर वह स्वयं

उन्हीं सिद्धान्तों पर अपनी कल्पना से नये रूपों को एक नये वातावरण के साथ अपने चित्र में स्थान देता है । प्रकृति के रूप उसकी कला के अंग नहीं होते प्रत्युत उन्हीं के अध्ययन के आधार पर वह नव-निर्माण करता है ।

इस प्रकार के काल्पनिक चित्रकार भी आधुनिक भारत में हैं, परन्तु अभी उनकी भावना परिपक्व नहीं हो पायी है । बंगाल के कल्याण सेन इस दिशा में प्रयत्नशील हैं । इनके काल्पनिक चित्रों में चित्रित सभी प्राकृतिक रूप परिवर्तित तथा परिमार्जित तो हैं, परन्तु प्राकृतिक हैं । इनकी "हाथियों की जल-क्रीड़ा" इसी प्रकार का काल्पनिक चित्र है । चित्र का सम्पूर्ण प्रबन्ध विलक्षण है और मुख्यतः पेड़-पौधों के रूप तो इनके बहुत ही मौलिक और निर्माणकारी हैं ।

यूरोपीय चित्रकला में ब्लेक तथा रूसो के चित्र भी इसी प्रकार के काल्पनिक चित्र हैं । रूसो का "सँपेरा" और ब्लेक का "नरक के द्वार पर" उल्लेखनीय हैं । काल्पनिक प्रवृत्ति का धीरे-धीरे काफी प्रचलन हो गया है और बहुत से भारतीय नये चित्रकार इस ओर अग्रसर हो रहे हैं । वैसे यह शैली उतनी सरल नहीं है कि सभी चित्रकार इसे अपना लें और उत्तम कला-कृतियाँ प्रस्तुत कर सकें । इसमें सफलता उन्हीं चित्रकारों को मिल सकती है जो रचनात्मक कल्पना करने में समर्थ हैं और सहज रूप में इस प्रवृत्ति को अपनाते हैं ।

घनत्व-निर्माण की प्रवृत्ति

सन् १९०८ ई० में फ्रांसीसी कलाकार पिकासो तथा ब्राक ने अपने चित्रों के स्वरूपों में आकार तथा घनत्व उत्पन्न करने का प्रयत्न किया और तभी से घनत्ववाद के रूप में चित्र-कला की एक शैली ही चल पड़ी। चित्रों में घनत्व उत्पन्न करने का प्रयास यद्यपि पुराना है, परन्तु एक विशेष शैली के रूप में इनका प्रचार बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही हुआ। विश्व-विख्यात इटालियन चित्रकार माइकेल ऐंजेलो ने पन्द्रहवीं शताब्दी में ही अपने चित्रों में घनत्व दर्शाने का प्रयत्न किया था और पाश्चात्य कला के इतिहास में वह इस विचार से अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसी प्रकार यदि पूर्वीय देशों की कला में घनत्ववाद खोजा जाय, तो उसका रूप डेढ़-दो हजार वर्ष की प्राचीन भारतीय कला अजन्ता शैली में भी देखने को मिलता है। सच कहा जाय तो घनत्व उत्पन्न करने की भावना अति प्राचीन है, यद्यपि अधिक सफलता तथा प्रौढ़ता हमें बीसवीं शताब्दी में आकर दृष्टिगोचर होती है।

घनत्ववाद का प्रेरणा-सूत्र भवन-निर्माण कला तथा मूर्तिकला ही है। बहुत से विद्वान् भवन-निर्माण कला तथा मूर्तिकला को चित्रकला की जन्मदात्री मानते हैं, क्योंकि चित्रकला से पूर्व ही इन दोनों कलाओं का विकास हुआ है, चित्रकला बाद में आयी। आरम्भ में चित्र-कला कोई अलग वस्तु नहीं थी, बल्कि भवन-निर्माण कला, मूर्तिकला या वास्तुकला का ही एक अंग थी। आगे चलकर क्रमशः चित्र-रचना एक अलग कला के रूप में अपना स्थान लेती है, और इसका विकास अपने ढंग पर होता है। प्राचीन समय में चित्रकार या कलाकार के स्थान पर शिल्पी शब्द का प्रयोग होता था। शिल्पी वास्तुकला, मूर्तिकला, तथा चित्र-कला सभी का ज्ञाता होता था। इतना ही नहीं बल्कि अन्य सामाजिक विद्याओं तथा सिद्धान्तों से भी पूर्ण परिचित होता था। ऐसे ही शिल्पी चित्रकार भी होते थे।

मूर्तिकला तथा वास्तुकला में घनत्व होता है, और इसको ध्यान में रखकर ही रचना की जाती है। यही कारण है कि आरम्भ से ही कलाकारों को चित्र में घनत्व उत्पन्न करने की भावना होती रही है यद्यपि भित्ति-चित्र या कागज पर यह प्रभाव उत्पन्न करना बड़ा कठिन था, परन्तु इस ओर प्राचीन समय से ही प्रयास हुआ है। मूर्ति में सुडौल आकार होता है। उसमें लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई (घनत्व) भी

होती है। मूर्ति को हम चारों ओर से घूम-फिर कर देख सकते हैं, उसका मुख तथा पीठ दोनों हम देख सकते हैं। जिस प्रकार शरीर के मांस में गढ़न होती है वही पत्थर, मिट्टी या धातु की मूर्ति में भी बनायी जाती है, क्योंकि पत्थर, मिट्टी या धातु में घनत्व होता है और इस प्रकार उसका प्रयोग हो सकता है; परन्तु दीवाल की चपटी सतह पर, कैनवस या कागज के चपटे धरातल पर रंग लगाकर वह घनत्व नहीं निर्मित किया जा सकता, जिस प्रकार पत्थर, मिट्टी या धातु से हो सकता है। पत्थर, मिट्टी या मोम की मूर्ति बनाकर उसमें मनुष्य जैसा रंग देकर, ऐसी रचना भी की जा सकती है जो मनुष्य की आँखों को धोखे में डाल दे। यह प्रतिमा बाह्य रूप में मनुष्य की हूबहू नकल हो सकती है, केवल उसमें जीवन की कमी होगी। वैसे आधुनिक समय में मोम की ऐसी मूर्तियाँ भी बनती हैं जो यंत्र-चालित होती है और हिलती-डुलती भी हैं, रेडियो के द्वारा बोल भी सकती हैं। ऐसा चित्र में नहीं हो सकता, इतनी यथार्थता चित्र में नहीं उत्पन्न की जा सकती। चित्रकार सदैव इससे वंचित रहे, यद्यपि इसको उत्पन्न करने के लिए उनका प्रयत्न हमेशा जारी रहा, चाहे वह असंभव ही क्यों न हो। घनत्ववाद इसी प्रयास का एक नया रूप है यद्यपि मूर्तिकला की भाँति यथार्थ रूप में इसमें सफलता न मिली।

इसी प्रकार भवन-निर्माण कला में घनत्व का दर्शन होता है। मकान में लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई होती है। सामने यदि बरामदा बना हो तो साफ दिखाई पड़ता है कि वह कितना गहरा है या चौड़ा है। मकान देखने पर तस्वीर-सा चपटा नहीं होता बल्कि उसका घनत्व साफ दिखाई पड़ता है। सामने का बरामदा उसके दरवाजे, भीतर का आँगन भी देख सकते हैं, आँगन के पीछे का कमरा भी दिखाई पड़ता है। अर्थात् हमारी आँखें मकान के सामने के भाग को देखती हैं तथा भीतर को भी देख सकती हैं और इस प्रकार काफी गहराई तक हम देख लेते हैं। पास की चीज पास दिखाई पड़ती है और दूर की वस्तु दूर। चित्र में भी ऐसा आभास उत्पन्न किया जा सकता है और यही करने के लिए पर्सपेक्टिव का उपयोग चित्रकला में होना आरम्भ हुआ जिससे चित्र यथार्थ के और समीप पहुँचा, यद्यपि फिर भी चित्र चपटा ही रहा, केवल घनत्व का आभास मात्र ही हो सका।

यही प्रयास प्राचीन भारतीय चित्रकारों ने भी किया परन्तु यहाँ पर्सपेक्टिव के आधार पर यह प्रयास नहीं हुआ। प्राचीन अजन्ता, जैन, राजपूत, तथा पहाड़ी शैली के चित्रों में खास कर जहाँ-जहाँ चित्र में महल, मकान इत्यादि बने दिखाई पड़ते हैं, उनमें यह प्रयत्न हुआ है कि मकान का बाहरी भाग तथा भीतरी भाग दोनों दिखाई दे। इस तरह के अनकों प्रयास हुए हैं। एक ही चित्र में शहर की चौहद्दी की दीवाल राजमहल के चारों ओर का अहाता, राजमहल का चबूतरा, भीतरी आँगन, कमरे के भीतर सोती राजकुमारी, छत पर नाच-गाने

का इन्तजाम, महल के पीछे का बगीचा, दूर का दृश्य, पहाड़, जंगल-झरने तथा आकाश पहाड़ पर विचरते पशु-पक्षी तथा जीव, आकाश में उड़ते पक्षी इत्यादि सभी का चित्रण एक ही चित्र में हुआ है। इस प्रकार चित्र में घनत्व की भावना हमारे प्राचीन चित्रकार करते रहे हैं। मुगल-काल में पाश्चात्य प्रभाव के कारण चित्रों में पर्सपेक्टिव के आधार पर भी रचनाएँ हुई हैं।

पाश्चात्य चित्रकला में घनत्व उत्पन्न करने का प्रयास होता रहा। बीसवीं शताब्दी तक आते-आते पाश्चात्य चित्रकला ने पर्सपेक्टिव के द्वारा घनत्व के प्रयास में रुचि लेना बन्द कर दिया, क्योंकि इससे घनत्व का एक धोखा अवश्य होता था, लेकिन इसमें बँधकर चित्रकार अपनी स्वतत्रता खो बैठता था, खुलकर सरलता के साथ चित्र बनाना कठिन हो गया था। पर्सपेक्टिव के साथ चित्र बनाना कठिन हो गया, पर्सपेक्टिव का सिद्धान्त एक गणित का प्रश्न-सा हो गया। इसी बीच तरह-तरह के प्रयोग होने लगे और नये-नये विचार चित्रकला के क्षेत्र में आने लगे। कला की परिभाषा बदली और यह धारणा स्थापित होने लगी कि चित्र हम वैसा न बनायें जैसा हम आँखों से देखते हैं, बल्कि वैसा बनायें जिसे हम जानते हैं। पर्सपेक्टिव के आधार पर बने दृश्य में दूर की वस्तुएँ छोटी तथा पास की बड़ी बनायी जाती हैं। यदि किसी मैदान का चित्र बनाना हो जिसमें दूर पर एक हाथी खड़ा हो और चित्रकार के अति निकट एक चूहा हो तो चित्र में पर्सपेक्टिव के आधार पर बने चूहे को बड़ा तथा हाथी को छोटा बनाना पड़ेगा। देखने में चूहा हाथी के बराबर लगेगा और हाथी चूहे के बराबर। इस प्रकार पर्सपेक्टिव के द्वारा दूरी का अनुभव कराया जाता था। परन्तु चित्र-कला के नये सिद्धान्तों के कारण चित्रकारों ने यही उचित समझा कि जब हाथी चूहे से बड़ा है, इसे हम भली-भाँति जानते हैं, तो पर्सपेक्टिव के गुलाम होकर चूहे को बड़ा और हाथी को छोटा क्यों बनायें? जब हम जानते हैं कि रेल की पटरियाँ समानान्तर रूप से चलती हैं, तो चित्र में दूर की पटरियाँ मिलती हुई क्यों बनायें? यहीं से पर्सपेक्टिव के उपयोग का अन्त होना आरम्भ होता है। इस समय तक भारतीय तथा पूर्वीय देशों की चित्रकला प्रचुर मात्रा में पाश्चात्य देशों को पहुँच चुकी थी और पाश्चात्य कलाकार धीरे-धीरे उससे प्रभावित हो रहे थे। पूर्वीय चित्रों में पर्सपेक्टिव का आधार न था बल्कि उसके स्थान पर राजपूत, पहाड़ी तथा अजन्ता चित्रों की भाँति एक ही चित्र में कई दृश्य दिखाने की परिपाटी का पश्चिमी कलाकारों पर काफी प्रभाव पड़ा। इसी भावना के आधार पर पाश्चात्य देशों में तमाम नयी आधुनिक शैलियों का जन्म हुआ जिनमें से 'घनत्ववाद' (क्यूबिज्म) एक है। क्यूबिज्म का आरम्भ इसी से हुआ। आकृतियों को क्यूब या सिलेण्डर के रूप में गढ़ना आरम्भ हुआ। जैसे मनुष्य के सिर को एक क्यूब समझें, गले को दूसरा, वक्षस्थल को तीसरा,

पेट को चौथा, जाँघों को पाँचवाँ, पैरों को छठा, पजों को सातवाँ और प्रत्येक बाँह, हाथ तथा उँगलियों को अलग-अलग घन या सिलिण्डर समझें। इस प्रकार चित्र के रूपों में थोड़ी विकृति उत्पन्न कर घनत्व की भावना लायी जाने लगी। साथ-ही-साथ यह भी प्रयास हुआ कि आकृति या आकार का आगे तथा पीछे दोनों का रूप चित्र में एक साथ दिखाई पड़े, जैसे—सामने का मुँह, नाक इत्यादि और साथ ही साथ पीछे की चोटी, बाल, सिर में गुँथे पुष्प और आभूषण भी। गहराई दिखाने के लिए पारदर्शक रूप से अंगों को बनाया जाने लगा ताकि आगे और पीछे का रूप एक साथ दिखाई पड़े। रंगों में घनत्व का ध्यान रखकर इस प्रकार उपयोग होने लगा कि उनसे चित्र में पास और दूर का भाव पैदा किया जा सके। इस प्रकार एक ही चित्र में कई दृश्य दिखाने की भावना घनत्व उत्पन्न करने के लिए प्रारम्भ हुई, परन्तु आगे चलकर यही भावना आधुनिक कला की अन्य शैलियों का विकास करती है, जैसे स्वप्निल-कला तथा सूक्ष्म-कला।

आज भारतवर्ष में भी इन आधुनिक शैलियों का काफी प्रचार हो गया है और उसी प्रकार क्यूबिज्म का भी। यद्यपि शुद्ध घनत्ववाद भारत में अभी तक नहीं पनप पाया है खासकर पाश्चात्य क्यूबिज्म की तरह का, फिर भी इस प्रवृत्ति का प्रभाव इस रूप में तो पड़ा ही है कि भारतीय चित्रकार अपने चित्रों में आकार निर्मित करने का प्रयत्न करने लगे हैं।

आधुनिक सूक्ष्म चित्रकला

आज संसार भर में सूक्ष्म चित्रकला (ऐब्सट्रैक्ट आर्ट) का प्रचार हो गया है। वर्तमान समय का शायद ही कोई चित्रकार हो जो इस नयी चेतना से प्रभावित न हुआ हो। भारतवर्ष में करीब-करीब सभी नये चित्रकारों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है। सूक्ष्म-चित्रकला इस सदी की एक बहुत ही प्रभावोत्पादक देन है। यह सच है कि साधारण मनुष्य इसका आनन्द लेने में असमर्थ है और इन्हें देखने पर नाक-भौं सिकोड़ता है। बात ठीक ही है। सूक्ष्म-चित्रकला से प्रभावित चित्रों की सींग-पूछ पहचानना बड़ा मुश्किल है, यहाँ तक कि यदि किसी चित्रकार से पूछा जाय तो वह भी उन्हें समझाने में असमर्थ सिद्ध होता है, क्योंकि बहुत से आधुनिक चित्रकार यूरोपीय 'एब्सट्रैक्ट आर्ट' (सूक्ष्म-चित्रकला) से प्रभावित होकर उसकी नकल करने लग गये हैं। न वे स्वयं वैसे चित्रों को समझते हैं, न समझा सकते हैं। बहुत हुआ तो वे जटिल भाषा में कुछ उलटे-सीधे शब्दों से समझाने की चेष्टाकर बात को और भी जटिल बना देते हैं, बात जहाँ की तहाँ रह जाती है। यही है, आधुनिक सूक्ष्मवादी कला की दशा।

सूक्ष्म-चित्रकला एक रहस्यात्मक वस्तु के रूप में हमारे सम्मुख आयी है, क्योंकि जो बात समझ में नहीं आती वह या तो पागलपन है या उसमें कोई रहस्य है। यही कारण है कि सूक्ष्मकला के प्रति लोगों की ऐसी आशंकाएँ हैं। पागलपन भी हो सकता है, और संसार के सभी चित्रकार धीरे-धीरे इसी पागलपन के शिकार होते जा रहे हैं—भारत ऐसे पिछड़े देश के भी चित्रकार। जैसे पागलपन की एक आँधी आ गयी हो, पर समझ में नहीं आता कि इस आँधी का प्रभाव चित्रकारों पर ही क्यों पड़ रहा है ? वैसे साहित्य में भी इसका प्रभाव है, पर उतना नहीं: यह भी एक रहस्य है। क्या आपने इस पर कभी विचार किया है ? कीजिए।

यह विज्ञान का युग है। विज्ञान का प्रभाव हमारे आज के जीवन में पग-पग पर दृष्टि-गोचर हो रहा है। विज्ञान की देन से हम सभी लाभ उठा रहे हैं और हानि भी। एक ओर विज्ञान ने हमें रेलगाड़ी, टेलीफोन, बतार का तार, रेडियो, मोटर, हवाई जहाज, और

ऐसी तमाम सुविधाएँ प्रदान कीं, यहाँ तक कि हम ऐटामिक शक्ति से चाँद और तारों में भी भ्रमण कर सकेंगे और घर बना सकेंगे। हमारे लिए घर, कपड़ा, खाना तथा अनेक सुविधाएँ इस शक्ति से प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो सकेंगी, हमें सुख और शान्ति मिल सकेगी। परन्तु साथ ही साथ विज्ञान के शाप भी हमारे ऊपर हैं, ऐटम बम, हाइड्रोजन बम, इत्यादि। जैसे हर वस्तु के दो पक्ष होते हैं, वैसे ही विज्ञान के भी हैं।

विज्ञान का चित्रकला के क्षेत्र में भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा है। चित्रकला अपनी गति से प्रगति करती जा रही थी और यथार्थ चित्रण की चरम सीमा पर पहुँच रही थी कि एकाएक विज्ञान ने कैमरे का आविष्कार सामने रखा। चित्रकला का लक्ष्य था अति यथार्थ-चित्रण और कैमरे ने इस लक्ष्य का एक प्रकार से अन्त कर दिया। कैमरे के द्वारा बढ़िया से बढ़िया यथार्थ चित्र तैयार होने लगे। जिस प्रकार कपड़ा बनाने की मशीन बन जाने से जुलाहे का काम छिन गया, उसी प्रकार से कैमरा बन जाने से चित्रकारों का काम छिन गया और ऐसा सारे संसार में हुआ जहाँ-जहाँ कैमरा पहुँचा। इस सदी के चित्रकार एक प्रकार से बेकार हो गये, बेरोज़गार हो गये, उनका जीना मुश्किल हो गया। जो कुछ अभी तक उन्होंने सीखा था उसका अब कोई उपयोग नहीं रह गया। जो काम इतने वर्षों में उन्होंने सीखा था वह कैमरा एक क्षण में कर सकता है। चित्रकार जो समाज में उपयोगी शक्ति था, अब समाज के लिए एक प्रश्न बन गया। संसार भर में चित्रकार की दुर्दशा हुई, चित्रकार चित्र बनाते और उनका मूल्य देनेवाला कोई नहीं मिलता। चित्रकार भूखों मरने लगे, समाज ने उनसे लाभ उठाना छोड़ दिया और उनके सामने अब कोई रास्ता नज़र नहीं आता। बहुत से चित्रकार कैमरा खरीदकर "फोटोग्राफर" हो गये और बहुत से व्यावसायिक चित्रकला का कार्य करने लगे, क्योंकि जीवन का साधन उन्हें खोजना ही था। फिर भी कुछ ऐसे भी चित्रकार थे जिन्होंने भूखे रहना स्वीकार किया, परन्तु अपना कार्य नहीं छोड़ा और अब उनकी चित्रकला समाज के लिए न होकर स्वान्तःसुखाय होने लगी। चित्रकार अपने लिए चित्र बनाने लगा, क्योंकि इसमें उसे आनन्द मिलता था, वह अपनी मुसीबतों, तथा दुख-दर्द को भुला सकता था। यहीं पर चित्रकला समाजवाद से हटकर व्यक्तिवाद की ओर झुकती प्रतीत होती है।

जब कला या कोई कार्य व्यक्तिवादी होता है तब मनुष्य जो कुछ करता है, वह अपनी इच्छानुसार करता है और जिसे वह स्वयं उचित समझता है वही करता है। आज का कलाकार यही कर रहा है। जब प्रत्येक चित्रकार को व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी तो यह भी सच है कि प्रत्येक चित्रकार एक ही तरह के विचारों पर आधारित चित्र नहीं बना सकता और यहीं से चित्रकला में प्रयोगवाद आरम्भ होता है। प्रत्येक चित्रकार अपनी-अपनी

इच्छा के अनुसार नये-नये तरीकों से, नये-नये रंगों से चित्र बनाना आरम्भ करता है और अनेक प्रकार के 'वाद' चित्रकला के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे लोककला, क्यूविज्म, सूरियलिज्म, फाविज्म, प्वाइन्टलिज्म, ऐब्सट्रेक्टशनिज्म, इत्यादि अनेक शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ और होता जा रहा है।

सूक्ष्म-चित्रकला इन प्रयासों का एक अति काल्पनिक तथा प्रगति-सूचक रूप है और आज इसका प्रभाव संसार के सभी आधुनिक चित्रकारों पर दिखाई पड़ रहा है, जैसा हमने पहले देखा है कि कैमरे के आविष्कार की वजह से यथार्थ-चित्रण की प्रगति बिलकुल रुक गयी और उसके स्थान पर व्यक्तिगत प्रयोगों का प्रादुर्भाव हुआ। अनेक नयी-नयी शैलियाँ सामने आयीं जिनका रूप कार्यवश यथार्थ रूप से हटकर अति काल्पनिक होता चला गया और सूक्ष्म-कला इसी का एक अति-काल्पनिक नमूना है। कैमरा यथार्थ चित्र बना सकता है, किन्तु है तो वह मशीन ही। उसमें मस्तिष्क नहीं है, उसमें हृदय नहीं है, उसमें विचार और कल्पना नहीं है। जिस प्रकार एक ओर उसके द्वारा यथार्थ चित्र बन सकता है उसी प्रकार दूसरी ओर भाव, उद्वेग, विचार और कल्पना की उसमें कमी है, जो कैमरे के बस का नहीं। यही जो कैमरे के वश में नहीं है वह मनुष्य के लिए बाकी बच रहा और आधुनिक चित्रकार भाव, उद्वेग, विकार और कल्पना के आधार पर अपनी प्रगति करने लगा। उसी के परिणाम-स्वरूप सूक्ष्म चित्रकला का प्रादुर्भाव होना सम्भव हुआ। जिसमें कल्पना का बाहुल्य है। चित्रकला अब यथार्थ न होकर काल्पनिक चित्रण की ओर अग्रसर हो रही है। अब आधुनिक चित्र में विषय नहीं होता, कहानी नहीं होती, इतिहास के चरित्र नहीं होते, यहाँ तक कि कोई ऐसी चीज नहीं होती, जिसको हमने पहले कभी देखा हो या पहचान सकें, क्योंकि आज की कला कल्पना पर आधारित है, और कल्पना मनुष्य की वह शक्ति है जिसके आधार पर नये संसार की सृष्टि हो सकती है। यही कल्पना मनुष्य, जानवर और मशीन में भेद कराती है। यही कारण है कि मनुष्य इस शक्ति को प्राप्त कर संसार के ऊपर राज्य कर रहा है, मशीन और जानवर दोनों उसके गुलाम हैं। कल्पना के आधार पर ही हमारी प्रगति हुई है और आगे भी होगी। चित्रकार यह बात अच्छी तरह जानता है और इसीलिए काल्पनिक चित्रकला या सूक्ष्म-चित्रकला का इतना प्रसार हुआ है। अब हमारे आधुनिक चित्रों में यथार्थ चित्रण खोजना या कैमरे के चित्रों की तरह यथार्थता खोजना हमारी महान् मूर्खता है, 'हिमालयन' भूल है।

सूक्ष्म चित्रकला का लक्ष्य

इस प्रकार चित्रकार ने अपनी कला के द्वारा आँखों देखी चीजों या दृश्यों का वर्णन करना छोड़कर कला के द्वारा अपने सूक्ष्म अनुभव-जन्य सत्य का चित्रण करना आरम्भ

किया। चित्रकार अब किसी वस्तु का चित्र नहीं बनाता बल्कि रंग, रूप, आकार तथा रेखाओं के माध्यम से वही करने का प्रयत्न करता है जो सृष्टि अपने अनेक साधनों से करती है।

सृष्टि में क्या होता है—अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनती-बिगड़ती हैं, जैसे समुद्र तथा उसकी लहरें और तूफान, बहती नदियाँ, अनेक प्रकार के आकार तथा रूप-रंग के जीव-जन्तु पक्षी इत्यादि; पहाड़, आसमान, बादल, वर्षा, धूप इत्यादि। अनेकों रूप हमें सृष्टि द्वारा निर्मित दिखाई पड़ते हैं। सृष्टि की इन वस्तुओं का अपना अलग-अलग रूप, आकार, रंग तथा प्रकृति है। जैसे अडिग लम्बा चौड़ा ऊँचा पहाड़, अथाह जल का समुद्र, कल-कल करती गतिमान् नदियाँ, उमड़ते-घुमड़ते बादल, अनन्त शान्त नील आकाश, हरे-भरे वृक्ष तथा लताएँ, खूँखार शेर चीता-से जानवर, सुन्दर चहचहानेवाले पक्षी तथा अनेकों अन्य वस्तुएँ प्रकृति में पायी जाती हैं, जिनका भिन्न-भिन्न रूप, रंग, आकार तथा प्रकृति है। पत्थर का कड़ापन, जल का प्रवाह, बादलों की उड़ान, सूर्य की किरणें, हवा के झोंके, सभी में अपनी-अपनी एक विशेषता तथा गति है। पानी बहता है, हवा चलती है, धूप लगती है, आग जलती है। सब वस्तुएँ अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार काम करती हैं और इनके निर्माण के सिद्धान्त हैं, जैसे धुआँ ऊपर जाता है, पानी गहराई की ओर बहता है, आग रोशनी देती है। धुंआँ पानी की तरह बह नहीं सकता, पानी आग की तरह रोशनी नहीं दे सकता, आग बह नहीं सकती। सभी अपने-अपने सिद्धान्त पर, प्रकृति पर चलते हैं। सभी की गति निश्चित है, सभी का रूप निश्चित है, अर्थात् सृष्टि की प्रत्येक वस्तु नियमित है। फूल पत्थर की तरह कड़ा नहीं होता, लोहा रुई की तरह मुलायम नहीं होता। सबका अपना अलग-अलग रूप है।

कलाकार सृष्टि के इस रहस्यात्मक सत्य को स्वीकार करता है और निरन्तर इसे अपनी कला के द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। वह प्रकृति की प्रत्येक वस्तु को एकाग्रता के साथ निहारता है और उसके रूप, रंग, आकार तथा उसकी प्रकृति को समझने का प्रयत्न करता है। वह चाहता है अपने चित्रों में इन्हीं प्राकृतिक सिद्धान्तों के द्वारा रचना करे। वह प्रकृति के रूपों की नकल नहीं करना चाहता, बल्कि जिन सिद्धान्तों पर प्रकृति रचना करती है उन्हीं के आधार पर वह अपनी मौलिक रचना करना चाहता है।

इसका यह अर्थ नहीं कि कलाकार ईश्वर बनना चाहता है। वह भी एक रचयिता है और चाहता है कि ऐसी रचना करे जो सत्य के आधार पर हो। आखिर चित्रकार अपने कागज या कैनवस पर एक दूसरी जीती-जागती दुनिया तो नहीं बना सकता जैसी कि हमारी दुनिया है, न वह ऐसा करने का दम भरता है। वह तो केवल इतना ही चाहता है कि अपने

छोटे से कागज या कैनवस पर वह जो भी रचना करे वह सत्य के सिद्धान्त पर निर्मित हो, जिस प्रकार सृष्टि में वस्तुएँ निर्मित होती हैं। प्रश्न हो सकता है कि आखिर सृष्टि का क्या सिद्धान्त है ? प्रश्न मुश्किल है, चित्रकार भी इसी की खोज में है और निरन्तर लगा है। जो जितना खोज पाता है, उसी के आधार पर रचना करता जाता है। फिर भी सृष्टि के बारे में इतना तो सभी मानते हैं कि वह एक निश्चित सिद्धान्त पर स्थित है। सृष्टि के रूप तथा कार्यों में एक निश्चित एकता, संतुलन, छन्दोमयता, नियम-बद्धता, सौम्यता, सम्बद्धता, जीवन, तथा गति दृष्टिगोचर होती है। यही कलाकार अपने चित्रों में उत्पन्न करना चाहता है और इसी रहस्य को समझकर अपनी रचना को अधिक अमूल्य बनाना चाहता है। सच कहिए तो चित्र बनाना भी उसके लिए इतना महत्त्व नहीं रखता जितना वह इन रहस्यों को जानकर अपने जीवन को ऊँचा उठाना चाहता है। फिर भी चित्र उसके लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि चित्र कलाकार का प्रतिरूप है, उसने जो जीवन पाया उसकी एक झलक है जिसे देखकर, उसके रहस्य को समझकर समाज के अन्य व्यक्ति उसी प्रकार अपने जीवन को भी ऊँचा उठाने का प्रयत्न कर सकते हैं। कला का सदा यही कार्य रहा है और आज की कला भी यही कर रही है।

आधुनिक चित्रों को समझना

आधुनिक सूक्ष्मवादी चित्र इस समय साधारण रूप में पहेली-से जान पड़ते हैं। यह तो समझ में आ सकता है कि आधुनिक चित्रकार बहुत ही ऊँचे भावों से प्रभावित होकर चित्र-रचना कर रहे हैं और जो कुछ वे कर रहे हैं उचित मार्ग पर है, परन्तु उनके चित्रों में साधारण मनुष्य को या अधिकतर लोगों को कोई आनन्द नहीं आता। यह आधुनिक चित्र केवल विभिन्न प्रकार के रूप उपस्थित करते हैं। चित्रों के इतने विविध रूप पहले देखने को नहीं मिलते थे। अनेकों प्रकार की शैलियाँ देखने को मिलती हैं, परन्तु इसके अतिरिक्त उसमें प्रत्यक्ष कोई लाभ या आनन्द दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे तो साधारण मनुष्य केवल इतना ही समझ पाता है कि आधुनिक चित्रकला की विशेषता यही है कि उसमें सूक्ष्म रूपों की विविधता बहुतायत से पायी जाती है, तथा अजीब-अजीब तरह के रूपों, रंगों, रेखाओं का संयोजन मिलता है, इसके अतिरिक्त और कुछ उसकी समझ में नहीं आता। विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म, विचित्र रूप-रंग दर्शक के मन में कौतूहल पैदा करते हैं, जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं, पर उत्तर कुछ भी नहीं मिलता—न चित्र उत्तर देता है, न चित्रकार। परिणाम यह होता है कि दर्शक का कौतूहल तथा जिज्ञासा कुछ समय बाद, उत्तर न मिलने पर इन चित्रों को एक रहस्य समझने लगता है। रहस्य का अर्थ ही है जो समझ में न आये, साधारण मनुष्य जब रहस्य को समझ नहीं पाता तो ऊबकर उसकी ओर दृष्टि दौड़ाना ही छोड़

देता है और धीरे-धीरे उसका कौतूहल और जिज्ञासा दोनों ही नष्ट होने लग जाते हैं। उसको धीरे-धीरे अभेद्य रहस्य से अरुचि हो जाती है और वह उस तरफ ध्यान देना बन्द कर देता है।

आधुनिक सूक्ष्मवादी चित्र ऐसे ही जटिल हैं। उनमें बुद्धि जरा भी काम नहीं देती। सूक्ष्म चित्रों के पहले जो चित्र हम देखते थे, वे समझ में आते थे, उनका आनन्द सरलता से मिल जाता था या थोड़ा प्रयास करने पर प्राप्त हो जाता था। उनको समझने का एक तरीका था, पर आधुनिक सूक्ष्म चित्रों को समझने में वे सब पुराने तरीके बेकार हैं। उनसे जरा भी काम नहीं चलता। लाख बुद्धि लगाने पर, पुराने तरीकों को इस्तेमाल करने पर जिनसे आसानी से हम चित्रों का आनन्द ले लेते थे, आज हम बिलकुल असमर्थ प्रतीत होते हैं। एक तरह से कहिए कि आधुनिक सूक्ष्म चित्रों के रूप में चित्रकला में एक महान् परिवर्तन हो गया है, सारे पुराने मापदण्ड झूठे पड़ गये हैं, सारा पुराना ज्ञान बेकार हो गया है। उस ज्ञान के सहारे आधुनिक चित्रों की तह में पहुँचना एक टेढ़ी खीर हो गयी है। यही कारण है कि हमारे पुराने कला-मर्मज्ञ भी मौन हैं और वह आधुनिक चित्रों को समझने में हमारी जरा भी सहायता नहीं कर रहे हैं।

ये पुराने कला-मर्मज्ञ चुप हैं। जल्दी कुछ बोलते नहीं, हाँ अकेले में उनसे बात की जाय और श्रद्धा के साथ, तो वे अपनी असमर्थता साबित करने के बजाय कहते हैं कि यह आधुनिक चित्र कलाकारों का एक पागलपन है—इसमें है कुछ भी नहीं, न यह अधिक दिन तक चल सकेगा। परन्तु अभी तो सूक्ष्मवाद का प्रचार बढ़ता ही जा रहा है। दर्शक उससे आतंकित हैं, कला-मर्मज्ञ भयभीत हैं, यह एक बड़ी विकट परिस्थिति है। प्रतिष्ठित कला-मर्मज्ञ, जो हमारी आँखें थे, आज बेकार साबित हो रहे हैं—हमारी कोई सहायता नहीं कर रहे हैं। एक ओर आधुनिक सूक्ष्म चित्रकला फैलती जा रही है, दूसरी ओर हमारी आँखें, प्रतिष्ठित कला-पारखी तथा मर्मज्ञ बेकार होते जा रहे हैं, दर्शक निस्सहाय हो गये हैं। इसका फल यह है कि दर्शक अपनी पुरानी आँखें अर्थात् कला-मर्मज्ञों तथा कला-पारखियों से सहारा लेना छोड़कर अपनी निजी आँखों का इस्तेमाल करने पर बाध्य हैं, यद्यपि उससे उन्हें अभी कोई अधिक लाभ नहीं। फिर भी अपने-अपने अनुभव, विचार, बुद्धि, कल्पना तथा अध्ययन के बल पर वे धीरे-धीरे सूक्ष्म चित्रकला के प्रति अपनी धारणा बना रहे हैं। यह भी एक महान् परिवर्तन है। कम से कम आधुनिक कला इसमें तो सफल हुई है कि उसके द्वारा समाज का व्यक्ति अपनी आँखों को वापस पा रहा है, अपनी बुद्धि का प्रयोग करने के लिए बाध्य है; उसे अपनी ही आँखों पर भरोसा करने का अभ्यास करना पड़ रहा है। चित्रों को समझने के लिए दर्शक दूसरों की आँखों पर अवलम्बित होना अब छोड़ रहा है, स्वतंत्र हो रहा है।

यह बात भी समझ में नहीं आती कि यदि यह सूक्ष्म रहस्यवादी चित्रकला ऐसी है जिसे न कला-मर्मज्ञ समझ पाते हैं न साधारण दर्शक, तो इसका धीरे-धीरे इतना प्रचार कैसे होता जा रहा है ? और इस क्रान्ति से संसार भर के चित्रकार कैसे प्रभावित होते जा रहे हैं ? इस कला-क्रान्ति को न दर्शक समझता है, न कला-पारखी, पर चित्रकार इससे बहुत प्रभावित है और धीरे-धीरे होता जा रहा है—इसका कारण क्या है ? इसका तो अर्थ यह हुआ कि आधुनिक कला को न तो दर्शक समझ पाते हैं न कला-पारखी—केवल चित्रकार ही इसे समझता है—तभी तो उससे प्रभावित है । अच्छा हो इसका अर्थ चित्रकार से ही समझा जाय ।

भारतवर्ष में अधिकतर चित्रकार वे हैं जो चित्र तो बना सकते हैं परन्तु उसको समझा नहीं सकते, अर्थात् वे शब्दों के उपयोग से चित्र में पदार्पण करने में असमर्थ हैं । या यों कहिए, वे ऐसा करना अपना धर्म नहीं समझते—गलत समझते हैं । सच तो यही है कि हमारे चित्रकार इतने शिक्षित नहीं कि चित्रों पर बोल सकें । या यूँ समझिए कि चित्र-कला भी एक भाषा है, और यही भाषा चित्रकार जानता है । वह इसी के द्वारा बोलता है, अपने भावों विचारों को प्रकट करता है । उसे ज़बान से बोलने की क्या आवश्यकता ? यदि वह ज़बान से भली-भाँति अपने विचारों को प्रकट कर सकता तो वह साहित्यकार न हो जाता ? वह तो कलाकार है—कला की भाषा में बोलता है, ज़बान क्यों हिलाये ? अब आप ही सोचिए । एक महान् क्रान्ति कला के क्षेत्र में हो रही है, यह तो सभी को प्रकट है । सारे पुराने तौर-तरीके बदल रहे हैं, पुराने सिद्धान्त बेकार हो रहे हैं, कला अति सूक्ष्म व जटिल हो गयी है । साधारण दर्शक के लिए, कला-पारखी उसे समझा नहीं पाते, हमारे कलाकार बोलना नहीं चाहते । अब दर्शक क्या करे ? कैसे समझे ? कैसे आधुनिक चित्रों का आनन्द ले ? बड़ी विकट परिस्थिति है । यही नहीं, किसी आधुनिक चित्रकार से पूछिए कि अमुक आधुनिक चित्रकार कैसा चित्र बनाता है ? या उसकी कला कैसी है ? तो वह तुरन्त कहेगा—'बिलकुल बेकार, उसे कुछ नहीं आता ।' इसी प्रकार उस अमुक चित्रकार से इनके बारे में पूछिए तो वह भी इन्हें बेवकूफ साबित करेगा । अर्थात् एक चित्रकार दूसरे के चित्रों को भी समझने में असमर्थ है और न समझा ही सकता है । दर्शक की मुसीबत और भी बढ़ गयी ।

कुल का तात्पर्य यह हुआ कि दर्शक को आधुनिक चित्र का यदि आनन्द लेना है तो वह अपनी आँखों से देखे और अपनी बुद्धि का उपयोग करे, किसी के द्वारा समझना बेकार है । चित्रों को स्वयं देखे और स्वयं समझे । हाँ, यदि चित्र का बनानेवाला चित्रकार भी उपस्थित हो तो उसकी भी राय उसके चित्रों के बारे में ले, या उसने कभी कुछ लिखा या

बोला हो तो उससे भी समझे। इसका यह तात्पर्य नहीं कि जो वह कहे उसे बिलकुल मान ले, बल्कि इसी प्रकार अनेक चित्रकारों के चित्र देखें, उनसे बातचीत करे, उनकी पुस्तकें पढ़े और तब निर्णय करे कि आधुनिक चित्रों में क्या है। यही एक तरीका है आधुनिक चित्रों को समझने का।

अन्तर-राष्ट्रीय प्रवृत्ति

भारतवर्ष और यूरोपीय देशों में हजारों मील का अन्तर है। यूरोपवालों ने भारत पर आक्रमण किया, डेढ़-दो सौ वर्ष तक भारत परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा रहा। परतन्त्रता कला की मृत्यु है। इन डेढ़-दो सौ वर्षों के अन्दर भारत की आत्मा कुचली गयी, कला का ह्रास हुआ, इस समय में ही भारतीयों ने फिर एक बार स्वतन्त्र होने की चेष्टा की और सफलता भी मिली। परन्तु ऐसे समय में कला में विकास खोजना अनधिकार-चेष्टा करना है। जिस समय यूरोप अपने विकास के पथ पर निरन्तर अग्रसर हो रहा था, उस समय भारत अपनी जंजीरों से मुक्ति पाने के लिए व्याकुल हो रहा था, तरस रहा था। इन डेढ़-दो सौ वर्षों में यूरोप विज्ञान की चरम सीमा पर आरूढ़ हुआ, भारत अज्ञान में भटकता रहा। विज्ञान के आधार पर यूरोप में मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ और भारतवासियों का मनोवैज्ञानिक पतन होता गया। यूरोप में ऐटम बम का आविष्कार हुआ, महायुद्ध हुआ और शोले भारत में गिरे, झुलस गया यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति। ये हैं हमारे उद्‌गार, यूरोप के प्रति और क्रोध आता है जब यूरोपीय विद्वान् भारत की तुलना अपने से करते हैं। अपने को हम क्या कोसें, शिथिल हुए, पिंजड़े से अभी-अभी निकले, पक्षी को !

इन डेढ़-दो सौ वर्षों में भारत में जो भी कला दिखाई पड़ती है, उसका कोई व्यवस्थित और परिमार्जित रूप नहीं मिलता। दो मुख्य धाराएँ आपस में होड़ लगाती हुई अवश्य दृष्टिगोचर होती हैं—वे हैं, परम्परागत कला तथा यूरोपीय यथार्थवादी कला। इन दोनों में यहाँ कशमकश रही है। अभी न तो यहाँ पूरी तरह से परम्परागत कला का विकास हुआ है, न यूरोपीय यथार्थवादी कला का। इस समय भारत की कला एक चौराहे पर है, और उलझन-सी साबित हो रही है। आज भी कहीं-कहीं पर कलाकार परम्परा के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, दूसरी ओर कुछ आधुनिक चित्रकार यूरोप के सम्पर्क में आकर आधुनिक यूरोप की नयी शैलियों के कुछ स्वतंत्र तथा मौलिक अध्ययन और खोज में लगे हैं। अभी कोई निश्चित, सुदृढ़, सुडौल मार्ग लक्षित नहीं हुआ है।
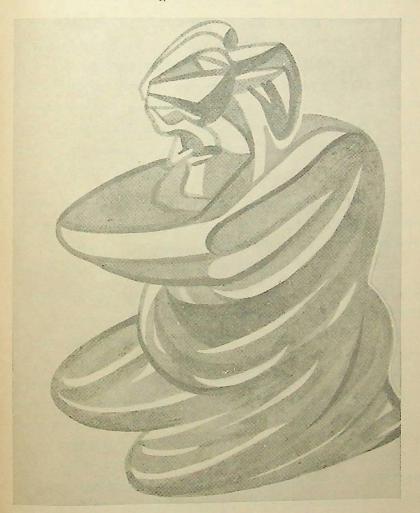
भावपूर्ण घनत्ववादी चित्र

घोर चिन्ता
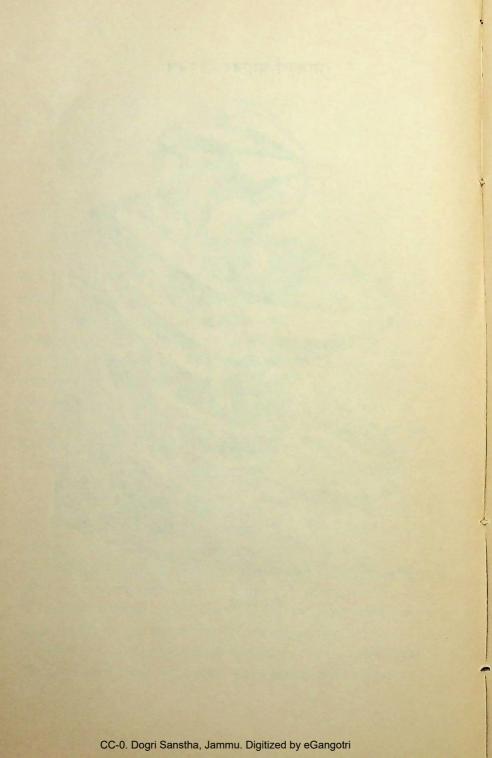
यूरोप में प्राकृतिक अनुकरण के बाद वैज्ञानिक युग आरम्भ होता है और आभासिक आन्दोलन तथा उत्तर-आभासिक आन्दोलन पिकासो तक आकारविकसित होकर कुम्हलाने लगा है और नये वैज्ञानिक युग के साथ-साथ एक नयी चेतना के साथ वहाँ आत्म-अभिव्यंजनात्मक आन्दोलन प्रारम्भ हो चुका है। यूरोप में इस समय अधिकतर चित्रकार इस आन्दोलन से प्रभावित हैं, इसी आधार पर नयी कला का निर्माण हो रहा है। इस आन्दोलन के प्रधान नेता पिकासो, सलवाडर डाली, हैनरी मूर, तथा हिलेयर हिलर हैं। यह आन्दोलन यूरोप, अमेरिका के सभी देशों और प्रदेशों में काफी वेग से फैल चुका है। यह आन्दोलन फ्रांस से आरम्भ होता है। यहाँ इस आन्दोलन के परिचालक वान गाग, गोगाँ, मातिस और रूओ मुख्य हैं। अमेरिका में मरीन, हैनरी एवं बैंलो, बैंबर तथा अलब्राइट मुख्य आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकार हैं। स्पेन में सलवाडर डाली तथा इंगलैण्ड में हेनरी मूर विख्यात हैं।

भारत में भी इस आन्दोलन में भाग लेनेवाले बहुत से चित्रकार उल्लेखनीय हैं जैसे—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गगनेन्द्रनाथ ठाकुर, यामिनी राय, अमृता शेरगिल, जार्ज कीब, कल्याण सेन, बैन्द्रे, शैलेज मुकर्जी, सुभौ ठाकुर, मनिषी डे, सुधीर खास्तगीर, शिया बख्स चावड़ा बीजू भाई भगत, प्राणनाथ मागो, रबी देव तथा राचशु इत्यादि।

आत्म-अभिव्यंजनात्मक कला का यह आन्दोलन भारत में यूरोप से आया हुआ प्रतीत होता है और इसकी भारतीय कला-आलोचक कटु आलोचना करते हैं। पर ऐसे आलोचक अधिकतर वे हैं जिन्होंने इस प्रकार के आन्दोलन का महत्त्व ही अभी नहीं समझा है। यूरोप का यह आन्दोलन एक ऐसा आन्दोलन है जो भविष्य में शायद यूरोप की भौतिकवादिता का लोप कर देगा और उसे (स्पिरिचुअलिज्म) आत्म-ज्ञान या अध्यात्म के पथ पर अग्रसर करेगा। यही आत्मज्ञान या अध्यात्म और भौतिकवाद ही यूरोप और एशिया के एक दूसरे से दूर होने का कारण रहा है। भारतवर्ष आत्मज्ञान तथा अध्यात्म में सदैव से विश्वास करता आया है, और आज भी करता है। यदि सदियों के भूले आज अनजाने जीवन के सही पथ पर आरूढ़ होने के लिए आन्दोलन करते हैं तो वे स्वागत के योग्य हैं। यूरोप में इस आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकला का जो आन्दोलन फैल रहा है शायद इसका महत्त्व वहाँ के लोगों ने भी अभी नहीं समझा है। पिछले भयानक महायुद्धों के बाद यूरोपवासी, भौतिकता से, जिसमें वे सबके आगे थे, घबड़ा गये हैं और ऐसी अवस्था में आत्म-चिन्तन, आत्म-ज्ञान या अध्यात्म ही मनुष्य को सही रास्ते पर फिर ला सकता है।

आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकला का सम्बन्ध हृदय से है, मनुष्य की मनोवृत्ति, उद्वेग और मनोवेग से है। जिस कला का सम्बन्ध हृदय से या आत्मा से होता है, वही कला

सर्वग्राह्य होती है और कल्याणकारी होती है । आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकला के द्वारा चित्रकार अपने हृदय के उद्गार अपने चित्रों में रखता है, वह अपने हृदय की, आत्मा की पुकार अपने चित्रों में सुनता है, उसे यह मालूम होता है कि उसकी आत्मा क्या कहती है, क्या चाहती है; उसे आत्म-दर्शन होता है । जो इसे भली-भाँति जानते हैं, वे सदैव कल्याण-कारी कार्यों में ही रत होते हैं और जीवन को आनन्दमय मानते हैं । जब मनुष्य अधिक भौति-कता या सांसारिकता में फँस जाता है, तब उसे आत्मा की आवाज नहीं सुनाई पड़ती, उसका कार्य अटपटा होता है । पिछले महायुद्ध की दर्दनाक आवाजों ने यूरोपीय भौतिकवादी मनुष्यों का हृदय द्रवित कर दिया । ऐसे समय हृदय की आवाज तेज हो जाती है, और उसका बहुत प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है । वह अपने होश में आ जाता है, अपनी स्थिति का उसे ध्यान होता है, वह समझने लगता है कि उसकी असलियत क्या है । यूरोप में ऐसी स्थिति महायुद्ध के कारण आयी और उसका फल आत्म-अभिव्यंजनात्मक कला के रूप में प्रस्फुटित हुआ ।

भारतवर्ष में सदियों से आत्मा और हृदय की आवाज में विश्वास रहा है । हमारे शास्त्र, पुराण और उपदेशों में आत्मा का या हृदय का स्थान सबसे ऊँचा रहा है । "रसात्मकं वाक्यं काव्यम्" या "वियोगी होगा पहिला कवि" इसके दृष्टान्त हैं ।

भारतवर्ष की चित्रकला सदैव से आदर्शवादी रही है । यहाँ की कला में यथार्थता भी है, पर यूरोप की यथार्थता की भाँति नहीं । यूरोप में इस प्रकार के यथार्थवादी कलाकारों की सदैव यह चेष्टा रही है कि वे बिलकुल वैसा ही चित्रण करें, जैसा वे वस्तुओं को आँखों से प्रकृति में देखते हैं । इंगलैण्ड का विख्यात चित्रकार कान्सटेबुल इसी मत का था । उन्नी-सवीं शताब्दी भर यूरोप में इसी आधार पर यथार्थ चित्रों का निर्माण हुआ । परन्तु इस सदी के खत्म होने से पहले ही वहाँ आभासिक चित्रकला (इम्प्रेशनिज्म) का प्रादुर्भाव आरम्भ हो गया । यूरोपीय कला-आलोचक हर्बट रीड का कहना है—"चित्रकला प्रकृति की नकल न होकर एक (ट्रिक) चमत्कार हो गयी, जिसके द्वारा प्रकृति की वस्तुओं को आभा-सित किया जाता था ताकि चित्र को देखकर प्रकृति का धोखा हो ।" हम कह सकते हैं कि यूरोपीय चित्रकारों ने धोखे में विश्वास करना आरम्भ किया और अपने चित्रों द्वारा अपने समाज को भी धोखा दिया और सिखाया, स्वयं तो धोखे में पड़े ही और धोखा खाया भी । परिणाम यह हुआ कि धोखा बहुत दिन तक नहीं चल सका और सचाई की खोज आरम्भ हुई । आत्म-अभिव्यजनात्मक चित्रकला का प्रादुर्भाव हुआ ।

ऐसा धोखा भारतवासियों ने अपनी कला के इतिहास में कभी नहीं खाया । हाँ, अंग्रेजी आधिपत्य के समय की कला इस धोखे का शिकार जरूर हो रही थी । भारतीय संस्कृति अति

प्राचीन है। यहाँ धोखे और सचाई का निर्णय सदियों पहले हो चुका है, फिर धोखा खाने का प्रश्न ही नहीं उठता। धोखा तो वह समाज खाता है जिसका इतिहास नया हो या जिसकी संस्कृति का कोई आधार न हो। संस्कृति, परम्परा और इतिहास मनुष्य को इसी प्रकार के धोखे से बचाते हैं। जो संस्कृति प्राचीन होती है उसके आदर्श भी निश्चित हो जाते हैं, और ऐसा ही समाज आदर्शवादी समाज कहलाता है। आदर्श सामने रहने पर धोखा जल्दी नहीं होता। यूरोप में प्रधानतया इंगलैण्ड में इस प्रकार की पुरानी संस्कृति, परम्परा या इतिहास बहुत नया है और बन रहा है, इसीलिए उन्हें धोखा देने और धोखा खाने की आवश्यकता पड़ी। जो लोग आदर्शवाद को अनावश्यक समझते हैं, वे धोखा अवश्य खाते हैं। भारतवर्ष ने इस प्रकार की धोखा देनेवाली चित्रकला में कभी भी विश्वास नहीं किया।

यूरोप की आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकला का भारत में इस समय काफी प्रचार है। उसका एक मात्र कारण यह है कि भारतवासी ऐसी कला का सदैव से आदर करते आये हैं और इसे वे अपना ही समझते हैं। आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकला-पद्धति की मुख्य विशेषता उसकी स्वतंत्रता की भावना है। इस पद्धति में चित्रकार अपनी रचना करने में स्वतंत्र है। यूरोपीय यथार्थवादी चित्रकला में 'पर्सपेक्टिव' का ज्ञान बहुत ही आवश्यक रहा है। इस 'पर्सपेक्टिव' का प्रयोग भारतीय प्राचीन कला में बहुत कम हुआ है। इसीलिए पहले जब यूरोप ने भारतीय कला पर आलोचना की तो यही कहा कि यहाँ की कला अपभ्रंश है अर्थात् बहुत ही निम्नकोटि की है। ऐसा उस समय उन्हें कहने का अधिकार था परन्तु आज आधुनिक चित्रकारों में शायद ही कोई ऐसा हो जो 'पर्सपेक्टिव' का अपने चित्रों में उपयोग करता हो या उसे आवश्यक समझता हो। विश्वविख्यात चित्रकार पिकासो स्वयं इसके विरोधी हैं। अर्थात् यूरोप को आज यह ज्ञान हुआ है कि चित्र में 'पर्सपेक्टिव' से कहीं अधिक महत्त्व की वस्तुएँ हैं, जिनको चित्रित करने के लिए 'पर्सपेक्टिव' ऐसे क्षुद्र ज्ञान को हमें छोड़ना होगा। भारत इस पर्सपेक्टिव को कभी आवश्यक नहीं समझता था यद्यपि इसका कुछ उपयोग यहाँ के चित्रों में मिलता है। यूरोप में बालकों की कला, इजिप्शियन कला और नीग्रो-कला के ऊपर जब लोगों ने खोज की तो उन्हें एक नयी ही अनुभूति हुई। यहाँ से आधुनिक चित्रकार ने इसमें विश्वास करना प्रारम्भ किया कि वह आँखों से जैसा देखता है वैसा चित्र नहीं बनायेगा बल्कि जैसा वस्तुओं के बारे में उसका अनुभव है उसके अनुसार उनका चित्र बनायेगा। मान लीजिए, हमें रेलवे लाइन का चित्रण करना है। अगर पटरी पर खड़े होकर हम दूर तक लाइन की ओर दृष्टि दौड़ायें तो हमें दोनों पटरियाँ दूर जाकर मिलती हुई दिखाई देंगी, यद्यपि सचमुच ऐसा नहीं होता। पटरियाँ सदैव समानान्तर रेखाओं के आधार पर चलती हैं। आभासिक या उत्तर-आभासिक चित्रकार यदि चित्रण करता तो पटरियों को ऐसा ही बनाता, परन्तु आधुनिक आत्म-अभिव्यंजनात्मक

चित्रकला में ऐसा कभी भी न होगा। चित्रकार जानता है कि पटरियाँ कभी भी एक दूसरे से नहीं मिलतीं, यदि ऐसा हो तो गाड़ी फौरन पटरी से नीचे ग्रा जाय। इसलिये ग्राधुनिक चित्रकार रेलवे लाइनों को समानान्तर ही बनायेगा।

इसी प्रकार एक चक्षु-चित्र (साइड पोज) में ही दोनों ग्राँखों का दिखाई देना, (जैसा पिकासो के चित्रों में) सामने के पेड़ ग्रौर दूर के पेड़ को एक ही नाप का बनाना, यद्यपि दूर का पेड़ छोटा दिखाई पड़ना चाहिए—एक ही रूप में कई मुद्राएँ दिखाना, चीजों को पारदर्शक करके ग्रामने-सामने दोनों तरफ का दृश्य एक साथ दिखाना, एक ही चित्र में कई चित्र बनाना इत्यादि ग्राधुनिक ग्रात्म-ग्रभिव्यंजनात्मक कला में बहुतायत से दृष्टिगोचर होता है। ये सभी बातें स्वाभाविक चित्रण के प्रतिकूल हैं, क्योंकि यहाँ चित्रकार प्रकृति को उस प्रकार चित्रित नहीं कर रहा है जैसा वह देखता है बल्कि स्वतंत्रता के साथ वह इन रूपों के द्वारा ग्रात्म-प्रकाशन का कार्य कर रहा है। उपर्युक्त सभी बातें पिकासो के चित्रों तथा ग्राधुनिक यूरोपीय चित्रों में दिखाई पड़ती हैं ग्रौर ग्रक्षरशः ये सभी बातें प्राचीन भारतीय जैन-कला तथा ग्रन्य शैलियों में दिखाई पड़ती हैं। ग्रगर यह कहा जाय कि ग्राधुनिक यूरोपीय कला शायद ग्रनजाने में भारतीयता के निकट ग्रा रही है तो मिथ्या न होगा। जिसने प्राचीन भारतीय चित्रकला पर भली-भाँति ग्रध्ययन किया है, वह इस बात से तुरन्त सहमत होगा।

इस प्रकार यूरोपीय तथा भारतीय चित्रकला में साम्य दिखाई पड़ता है, फिर भी साधारण मनुष्य को तो उनमें कोई भी समानता नजर न ग्रायेगी। यह एक ग्रध्ययन करने योग्य विषय है ग्रौर ग्राधुनिक नव-चित्रकार को इस कार्य में रुचि लेनी चाहिए। ग्रध्ययन करने पर ज्ञात होगा कि ग्रति प्राचीन जैन चित्र ग्रौर ग्राधुनिक पिकासो-चित्र में बहुत कम ग्रन्तर है। या हम इस प्रकार कह सकते हैं कि ग्राधुनिक यूरोपीय चित्रकला ग्रभी तो केवल ग्रपना स्वाभाविक विकास मात्र ही कर रही है ग्रौर यह भारतीय चित्रकला सदियों पहले कर चुकी है। जो रास्ता चित्रकला के विकास में जैन-चित्रकला ने या भारतीय चित्रकला ने सदियों पहले पार किया है, इस समय ग्राधुनिक यूरोपीय चित्रकला उसी को पार करने का प्रयत्न कर रही है। ऐसा भी हो सकता है कि ग्रौर ग्रध्ययन के बाद ग्राधुनिक यूरोपीय चित्रकला भारतीय चित्रकला के ग्रौर समीप पहुँच जाय। पहले यूरोपीय चित्रकला में रंगों के ग्रच्छे सम्मिश्रण पर बहुत ध्यान दिया जाता था, पर ग्राधुनिक यूरोपीय चित्रकला में शुद्ध रंगों का ही प्रयोग होने लगा है जैसा राजपूत या जैन-चित्रकला में होता था। जैसे थ्री डाइमेन्शन, त्रिभंग रूप के स्थान पर चपटे रंग ग्रौर ग्राकार, जैसा कि प्राचीन भारतीय चित्रों में, लय, छन्द, गति, सन्तुलन इत्यादि संगीत के गुणों का चित्र में सामंजस्य होता था, उसी प्रकार ग्राधुनिक यूरोपीय चित्रकला भी एक डिजाइन-सी प्रतीत होती है।

यदि आधुनिक यूरोपीय चित्रकला की इस प्रवृत्ति को हम भली-भाँति समझ लें, तो हमें निश्चय ही उसका आदर करना चाहिए। इस समय सारा संसार एक प्रकार की अन्तरराष्ट्रीय भाषा बनाना चाहता है और इस आधुनिक युग में एक देश दूसरे देश से अलग होकर रह भी नहीं सकता, तब चित्र-कला की भी एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होनी चाहिए। यूरोप अनजाने में या जानकर इस ओर कदम बढ़ा रहा है, हमारा भी कर्त्तव्य है कि हम इस कार्य में सहयोग दें। आधुनिक यूरोप सभी देशों, समयों की चित्रकला का अध्ययन भली-भाँति कर रहा है। आधुनिक यूरोपीय कला में इजिप्शियन कला, नीग्रो-कला, चीन-जापान की कला, भारत की कला, प्रागैतिहासिक कला, बालकों की कला इत्यादि का सामंजस्य होता जा रहा है। यही तरीका है एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनाने का, यही तरीका भारतीय कला का भी होना चाहिए।

आधुनिक भारतीय नवयुवक चित्रकार को यूरोप की आधुनिक चित्रकला तथा प्राचीन भारतीय चित्रकला-पद्धति का अध्ययन कर और देशों की भाँति भारत की कला को प्रगति के पथ पर अग्रसर करना चाहिए।

आध्यात्मिक प्रवृत्ति

इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि भारतवर्ष, जहाँ तक साहित्य, कला और संगीत का प्रश्न है, अन्य देशों से कभी भी पीछे नहीं रहा। यह बात सभी सुलझे हुए विचारक एक मत से स्वीकार करते हैं। सच पूछिए तो ज्ञान का पहला दिया भारतवर्ष में ही जलाया गया। ऐसी स्थिति में हमारे हृदय को तब धक्का लगता है जब कोई लेखक बिना सोचे-विचारे भारत को किसी अन्य देश के, विशेषतया पश्चिम के, पीछे चलनेवाला घोषित कर बैठता है, वह चाहे साहित्य के क्षेत्र में हो या कला के। यह बात आधुनिक चित्रकला तथा चित्रकारों के प्रति एक 'कन्फ्यूजन' इंगित करती है। इस ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना नितान्त आवश्यक जान पड़ता है।

कला-आलोचक भारतीय आधुनिक चित्रकला पर केन्द्रित न होकर संसार भर की आधुनिक कला पर दृष्टिपात करते हैं, परन्तु वे अपना ही मत सामने रखकर तथा अपना ही मापदंड सामने रखकर संसार भर की आधुनिक चित्रकला का मूलाधार प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रयास उनके आत्म-विश्वास को व्यक्त करता है, परन्तु उनकी रचनाओं में कहीं भी नहीं मालूम पड़ता कि वे संसार भर की आधुनिक कला पर दृष्टि रखकर मूलाधार निश्चय करते हों। उन्हें चाहिए कि संसार-भर के कला-मर्मज्ञों, कलाकारों के विचारों का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए अपना दृष्टिकोण भी सामने रखें जिसमें उनकी बात समझ में आये। लेकिन वे आधुनिक चित्रकला को अपना समझकर निश्चयात्मक ढंग से मनचाही बातें कहते हैं।

वे यह मानते हैं कि भारतीय चित्रकला पाश्चात्य आधुनिक चित्रकला से अति प्रभावित हो रही है और भारतीय आधुनिकता एक प्रकार से पाश्चात्य की नकल है। तो भी 'मूलाधार' खोजते समय वे यह ध्यान में नहीं लाते कि पाश्चात्य विचारों को भी दृष्टि में रखें। आधुनिक भारतीय चित्रकला का मूलाधार पश्चिम में है, यह बात उनके वक्तव्यों से साफ व्यक्त होती है, पर फिर भी वे पाश्चात्य विचारों पर दृष्टि नहीं डालते, जब कि आधुनिक चित्रकला पर पश्चिम से सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और सैकड़ों कलाकारों के चित्रों के अलबम

बाजार में बिखरे पड़े हैं। आलोचकों को चाहिए कि पाश्चात्य विचारों को भी प्रस्तुत करते हुए अपना दृष्टिकोण सामने रखें।

यह बड़े खेद का विषय है कि यद्यपि पश्चिम में आधुनिक कला-मर्मज्ञ आज सचाई के साथ यह मानने को तैयार हैं कि आधुनिक कला का प्रेरणासूत्र भारतीय तथा अन्य पूर्वीय कला है, परन्तु हमारे नये कला-समीक्षक अब भी पश्चिम को ही कला-गुरु मानने को कटिबद्ध हैं। विद्वान् पाश्चात्य आधुनिक कला-आलोचक श्री शेल्डन चेनी की धारणा उनके ही मुख से उनकी विख्यात पुस्तक "एक्सप्रेशनिज्म इन आर्ट्' से सुनिए, जो १९४८ ई० में प्रकाशित हुई है—

"आत्म अभिव्यंजनात्मक कला (एक्सप्रेशनिज्म) के प्रादुर्भाव के ही साथ पश्चिम ने पूर्व की उत्तम अलंकरण सिद्धि को मान्यता देना आरम्भ किया, चाहे वह चीन की गहराई वाले चित्र हों या फारसी, हिन्दू या जापानी कला।" पोस्ट इम्प्रेशनिज्म तथा फाविज्म के इतिहासकार इस बात को भुला सकते हैं कि सन् १८७० तथा १९०० के बीच इस पर पूर्वीय प्रभाव कितना पड़ा। बहुत-सी पूर्वीय निधियाँ जो यहाँ आयीं वही एक्सप्रेशिनज्म शैली का प्रारम्भिक प्रेरणासूत्र है, जो बड़ी सरलता से खोजा जा सकता है। फ्रांसीसी कलाकार पाल गोगाँ के बारे में, जिससे आधुनिक कला एक निश्चित धरातल पर पहुँचती है और जो पूर्वीय कला से प्रेरणा लेता था, लिखते हुए शेल्डन चेनी कहते हैं—

"और इसमें कोई लाभ नहीं कि आधुनिक कला का प्रेरणा-सूत्र इधर-उधर खोजा जाय। गोगाँ की कला पूर्वीय कला के साथ है।"

"पूर्वीय कला में पाश्चात्य विचारों के आक्रमण से पहले कला का मूल तत्त्व ही सूक्ष्म स्वरूपों का मूल्यांकन था। बाइजनटाइन कला का प्रभाव जब पश्चिमी कला पर सरलता से पड़ रहा था तो पश्चिमी कला इन मूल्यांकनों से समृद्धशाली हो रही थी और उसका रूप सियानीज, गिअटो तथा अन्य मूर्तिकारों की कला में दर्शनीय है। लेकिन रिनेसाँ के आरम्भ होते ही, यूरोप ने पूर्व से नाता तोड़ दिया। पश्चिमी कलाकारों ने बाह्य आडम्बर को ही महत्त्व देना आरम्भ किया जिसका सिलसिला इम्प्रेशिनज्म तक रहा। यथार्थवाद के आधिपत्य के समय सूक्ष्म आदर्शों का एक प्रकार से अन्त हो गया। 'एक्सप्रेशिनज्म' से पुनः रचनात्मक तत्त्व का आदर्श पश्चिम में आरम्भ हो गया है, आज पुनः पूर्वी प्रभाव का आगमन हो गया है और उसका असर पड़ रहा है क्योंकि हमने पूर्वी देशों से आत्मीयता जोड़ना आरम्भ कर दिया है।" इसी प्रकार अन्य पाश्चात्य विद्वान् भी आज किसी न किसी रूप में भारतवर्ष तथा अन्य पूर्वीय देशों की कला को ही आधुनिक कला का मूल स्रोत मानते हैं।

शेल्डन चेनी ने अपनी विस्तृत पुस्तक में हेनरी रूसो के चित्रों का उदाहरण देते हुए खासकर 'द ड्रीम' का, कई बार कहा है कि रूसो की ही चित्रकला पूरी तौर से आधुनिक कही जा सकती है। 'द ड्रीम' शीर्षक चित्र बिलकुल भारतीय राजस्थानी चित्र से मिलता-जुलता है और इसी प्रकार उसके अन्य चित्र भी।

एक जगह शेल्डन चेनी ने स्वीकार किया है कि "इसमें जरा भी शक नहीं कि जिस कला-तत्त्व को पूर्वीय कलाकार प्राप्त कर चुके थे, वही प्राप्त करने के लिए हम अब अभि-व्यंजनात्मक स्वरूपों की ओर दौड़ रहे हैं।"

"प्रत्येक साहित्यकार, कवि या लेखक अपनी अनुभूतियों को, 'विशिष्ट अनुभूतियों को', अपनी रचना के माध्यम से व्यक्त करने के लिए स्वच्छन्दता चाहता है। उसी प्रकार आज का चित्रकार अपनी 'विशिष्ट अनुभूति' अपनी रुचि या अपनी धारणा तथा सन्देश स्वच्छ-न्दता के साथ व्यक्त करने को उद्यत है। पहले वह समकालीन साहित्य, धार्मिक प्रचलन तथा राजकीय रुचियों का आधार लेकर चित्रण करता था, आज वह इस बन्धन से मुक्त होकर अपनी व्यक्तिगत अनुभूति को, जिसे उसने अपने जीवन तथा समाज के साहचर्य से प्राप्त किया है, व्यक्त करने के लिए, स्वच्छन्द होने के लिए क्रांति कर रहा है। यही कारण है, जो आधुनिक चित्रकला में विचित्र शैलियाँ, टेकनिक तथा अभिव्यक्तियाँ सामने आ रही हैं। यही आधुनिक कला की विशेषता है। चित्रकार आज अपनी विशिष्ट रुचि के आधार पर नये रूप, रंग तथा आकार प्रदर्शित करने के लिए प्रयत्नशील है।" यही बात आधुनिक कला-आलोचक अपने ढंग से स्थापित करते हैं, परन्तु इसी को वे आगे चलकर काट देते हैं और कन्फ्यूजन को स्थान देते हैं।

वे कलाकार की विशिष्ट अभिव्यक्ति के प्रयास को प्रयोगवाद का मूलाधार मानते हैं जिसमें वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रधानता देते हैं और कहते हैं "वैज्ञानिक प्रभाव के कारण संघटन तथा विघटन को कला में स्थान प्राप्त हुआ। जिन वस्तुओं को हम सदा ही एक आवयविक अखंडता में परिकल्पित करते आये उनको नयी चित्रकला ने खंडित करके नये आवयविक संघटन की नींव डाली।" यहीं पर वे अपने कन्फ्यूजन को इंगित करते हुए कहते हैं—"कहना न होगा कि इस दिशा में बहुत-सा सृजन ऐसा भी हुआ है और हो रहा है, जो स्वयं सार्थकता-शून्य ही नहीं वरन् 'एक बहुत बड़े कन्फ्यूजन' का परिचायक भी है।" सचमुच यहाँ पहुँचते-पहुँचते वे स्वयं कन्फ्यूज्ड (संभ्रमित) से मालूम पड़ने लगते हैं और उनके पास कुछ कहने को नहीं रह जाता। तब वे 'पश्चिमी आधुनिक चित्रकला की विकास रेखा' नापने लग जाते हैं।

कुछ आलोचक एरिक न्यूटन की धारणा से सहमत होते हुए स्वीकार करते हैं कि भावी चित्रकला की प्रवृत्ति इन तत्त्वों की खोज की ओर होगी जो अब तक अर्जित उसके प्रयोगों तथा शैलियों की शक्ति को अपने में स्थापित करके अधिक स्थायी रूप दे सकें। यहाँ वे पुनः अपनी बात—वैयक्तिक स्वतंत्रता को काटते हैं। आधुनिक कला के बारे में एरिक न्यूटन के विचार स्वयं भी कन्फ्यूज्ड-से हैं। एरिक न्यूटन ने पूर्वीय कला को भी बुरी तरह चित्रित किया है। अपनी पुस्तक 'यूरोपियन पेंटिंग और मूर्ति-कला' में पूर्वीय तथा पश्चिमी कला पर विचार करते हुए उन्होंने पूर्वीय कला को जड़ता की संज्ञा प्रदान की है और पाश्चात्य कला को व्यापक तथा प्रगतिशील कहकर पूर्वीय कला को निम्न श्रेणी का घोषित करने का कष्ट किया है। उन्होंने कहा है—"सारी पूर्वीय कला अपनी निर्जीवता तथा निष्प्रियता से मुझे बिलकुल बेजान बना देती है। यह आवश्यकता से अधिक सुन्दर है, परन्तु मानवता से हीन है।" ऐसे विचारोंवाले व्यक्ति के आधार पर यदि हम कला का मूलाधार निश्चित करें तो कहाँ तक न्याय होगा ?

अधिकतर आलोचक यह साबित करने का प्रयत्न करते हैं कि वैयक्तिक आत्म-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ही आधुनिक कला का मूलाधार है। आधुनिक कलाकार के 'विशिष्ट अनुभव' को मान्यता देते हुए वे भारतीय रस-सिद्धान्त की दोहाई भी देते हैं और अन्त में इसके बिलकुल विपरीत वे कला को लोकोन्मुखी होने का आदेश देते हैं। वे बड़ी ही सरलता से अपना कन्फ्यूजन स्वीकार करते हैं। यह नहीं पता चलता कि वे वैयक्तिक आत्म-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की ओर हैं या लोकोन्मुख ? ये विचार परस्पर-विरोधात्मक हैं।

आधुनिक कला को इस प्रकार कन्फ्यूज्ड (भ्रामक) तरीके से पाठक के सामने रखना आधुनिक कला के प्रति अन्याय करना है और खतरे से खाली नहीं।

इस प्रकार तो आधुनिक चित्रकला का मूलाधार बिलकुल भ्रम-मूलक बन जाता है, और इस बात का पता ही नहीं चलता कि आधुनिक कला का दार्शनिक धरातल क्या है तथा आधुनिक कला क्यों और किस ओर जा रही है ?

आधुनिक चित्रकला का रूप यथार्थ चित्रण का बिलकुल विपरीत रूप है, यह तो साफ दृष्टिगोचर होता है। कला ने यह रास्ता क्यों अपनाया इसका सामाजिक मूलाधार तो यही है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ही फोटो कैमरा तथा आगे चलकर फिल्म कैमरा सिनेमा के रूप में इस प्रकार आया कि यथार्थ चित्रण का लक्ष्य ही इस आविष्कार ने पूर्ण कर दिया। जिस प्रकार कपड़ा बुनने की मशीन बनने से साथ ही जुलाहों का काम खत्म हो गया, उसी प्रकार कैमरा के साथ यथार्थ चित्रण का। यहीं से कला के क्षेत्र में कल्पना के आधार पर

सूक्ष्म स्वरूपों का चित्रण एक नयी क्रांति के रूप में आधुनिक कला का मूलाधार बनकर संसार भर में व्याप्त हो गया। यह कार्य कैमरे के बूते के बाहर है। इतना ही नहीं, चित्रकार यहीं से बहिर्मुख होने के बजाय अन्तर्मुख होता है और मनोविज्ञान के आधार पर सुरियलिज्म तथा एक्सप्रेश्निज्म के रूप में आधुनिक कला आगे वढ़ती है और भारतीय आध्यात्मिक प्रवृत्ति की ओर झुकाव प्रारम्भ होता है, जिसे किसी-न-किसी रूप में सभी पाश्चात्य कलाकार, कला-मर्मज्ञ तथा विद्वान् मानने लगे हैं। कुछ दृष्टान्त आपके सम्मुख प्रस्तुत हैं और अनेकों उपस्थित किये जा सकते हैं।

शेल्डन चेनी—"एक्सप्रेश्निस्ट का कार्य यही है कि वह रूप संघटन के द्वारा पूर्ण सत्य सर्वव्यापी सामंजस्य और आध्यात्मिक एकता की चेतना को जाग्रत करे।" इस प्रकार कला एक जीवन-दर्शन तथा आध्यात्मिक उच्च जीवन का स्रोत बन जाती है। कलाकार जैसे-जैसे अपनी रचनात्मक शक्ति को पहचानता है, अपने को सारे संसार में व्याप्त होते देखता है और यह अनुभव करता है कि वह स्वयं दैवीय शक्ति की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है, तो वह यही स्थिति मानकर अपनी रचनात्मक शक्ति द्वारा नियति के सौन्दर्य तथा नियम के आधार पर मानवीय विकास को आगे बढ़ाता है।"

हर्बट रीड—"हमें अब यह निश्चय समझ लेना है कि अब हमारा कार्य यूरोप में चित्र-कला का विकास नहीं है, न कोई ऐसा विकास करना है जिसके समान इतिहास में कभी न हुआ हो, बल्कि सारी परम्परा तथा मान्यताओं को तोड़कर कि कला का रूप कैसा हो यह बात समझनी है कि अब हमें बाह्य सांसारिक स्वरूपों को त्यागना है। कलाकार अपनी चेतना को अन्तर्मुखी करता है, जहाँ उसे मानसिक तथा काल्पनिक चेतना का बोध होता है जैसे स्वप्न में।"

हाफमैन—"रचनात्मक कला आध्यात्मिक है और मुक्ति का अनुभव प्राप्त कराती है।"

कैनडिस्की—"कलाकार में एक अद्भुत रहस्यमय दृष्टि होती है। कला आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्ध रखती है। जो भविष्य की आत्मा से सम्बन्धित है, वह केवल अनुभूति से प्राप्त हो सकता है और इस अनुभूति का रास्ता कलाकार का कौशल है।"

पिकासो—"जब मैं कार्य करता हूँ तो मुझे जरा भी पता नहीं चलता कि मैं कैनवस पर क्या चित्रित कर रहा हूँ। जब-जब मैं चित्र बनाने लगता हूँ, मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो मैं अपने को एक महान् अंधकार में खो रहा हूँ।"

आइन्सटाइन—"मनुष्य की सबसे तीव्र इच्छा जो उसे कला तथा विज्ञान की ओर खींचती है, यह है कि वह सांसारिक जीवन से किस प्रकार मुक्त हो।"

ये सभी विचार भारतीय अध्यात्मवाद के परिचायक हैं और यही सत्य यहाँ के जन-जन की अनुभूति में व्याप्त है ।

महात्मा अरविन्द ने कला का कार्य समझाते हुए अपनी पुस्तक 'द सिग्नीफिकेन्स ऑफ इण्डियन आर्ट' में बड़े ही सरल शब्दों में कहा है, "कला का सर्वोच्च ध्येय यही है कि वह अनन्त तथा दैवीय आत्मा की आत्मानुभूति प्रदान करे, आत्माभिव्यंजना करे । अनन्त को जीवित प्रतीकों से व्यंजित करे तथा दैवीय को अपनी शक्ति से प्रकाशित करे ।" यही सर्वदा भारतीय कला का प्रेरणासूत्र तथा मूलाधार रहा है और इसी ओर पाश्चात्य कला का ध्यान आकर्षित हुआ है । हमारी आधुनिक कला का मूलाधार सात समुद्र पार नहीं है बल्कि इसी मिट्टी में है । वैसे कभी भी किसी देश की कला प्रभाव-मुक्त नहीं रहती ।

अन्तिम बात

कला अपने समय तथा समाज का और उसकी प्रगति का प्रतिबिम्ब होती है। हर प्राचीन कला तथा आधुनिक कला का यही रूप तथा रुख हुआ करता है, चाहे उसका रूप कैसा भी हो। संसार की विधि के अनुसार सभी वस्तुओं का रूप बदलता रहता है। रूप एक प्रकार से केवल अभिव्यक्ति का माध्यम है। माध्यम कभी एक-सा सभी का नहीं होता। इसी माध्यम को हम कला की दृष्टि से शैली कह सकते हैं। शैलियाँ प्राचीन काल में भी अनेक थीं और आज भी हैं। शैली का तात्पर्य होता है उन विलक्षण प्रतीकों से जिनके द्वारा कलाकार अभिव्यक्ति करता है। जैसा मैंने पहले कहा, अभिव्यक्ति मनुष्य अपने तौर-तरीकों, भावनाओं तथा विचारों की करता है और सभी कलाकार यही करते हैं, अन्तर है शैली का। अभिव्यक्ति का रूप तो करीब-करीब एक समय तथा समाज में एक-सा होता है, पर उसे व्यक्त करने के लिए अनेकों कलाकार विभिन्न शैलियों का प्रयोग करते हैं। इसीलिए आधुनिक कला के रसास्वादन के लिए शैली की विशेषता का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है और आधुनिक कला का आनन्द भी इसी में है। अभिव्यक्ति तो एक प्रकार से गौण-सी होती है क्योंकि एक ही बात की सभी कलाकार अभिव्यक्ति करते हैं, यद्यपि अभि-व्यक्ति भी कला का एक आवश्यक अंग है। इतना ही नहीं, जाने-अनजाने अभिव्यक्ति होती रहती है चाहे कलाकार उस पर ध्यान दे या न दे।

आधुनिक कला में अभिव्यक्ति से महत्त्वपूर्ण शैली है। शैली की विचित्रता, नवीनता तथा सुन्दरता ही आज की कला का मुख्य आकर्षण है और यह बात साफ दृष्टिगोचर होती है। जिस किसी ने आधुनिक चित्रों को देखा है, वह उसकी शैली की विचित्रता से अवश्य ही प्रभावित हुआ होगा चाहे उसकी समझ में वे चित्र न आये हों और इसीलिए उन्हें देखकर उसे कुछ घबराहट भी हुई हो और वह आधुनिक कला का आलोचक बन गया हो। बहुत-से व्यक्ति जो साहित्यिक दृष्टिकोण से आधुनिक कला में पदार्पण करते हैं, इस महत्त्व को नहीं समझ पाते और न इस कला का आनन्द ही ले पाते हैं। यदि वे स्वयं भी कलाकार हुए तो आधुनिक कला की छीछालेदर करते हैं, बन्दरों की तरह इसकी नकल कर। साहित्यिक कला में भाव खोजता है, जैसा वह कविता में करता है और बस आधुनिक कला का दरवाजा

उसके लिए बन्द हो जाता है । चित्रकला और कविता यद्यपि एक दूसरी से आज बहुत समीप प्रतीत होती हैं, पर उनमें आज भी मौलिक भेद हैं, इसे समझ लेना बहुत आवश्यक है ।

संगीत, काव्य तथा चित्रकला, ये तीनों ललित-कलाएँ हैं, पर तीनों में अन्तर है, यद्यपि तीनों हृदय के गुणों से प्रभावित होती हैं और मस्तिष्क तक पहुँचती हैं । संगीत का आनन्द उसे सुनने में है, कविता का आनन्द उसे समझने में है, चित्रकला का आनन्द उसे देखने में है । सुनने, और समझने में अन्तर है । संगीत का आनन्द उसे मिल ही नहीं सकता जिसके कान ठीक नहीं, कविता का आनन्द वह ले ही नहीं सकता, जिसका मस्तिष्क स्वस्थ नहीं, उसी भाँति आँखों के गुणों से जो पूर्ण नहीं वह चित्रकला का पूरा आनन्द नहीं पा सकता । अक्सर देखा गया है कि संगीतज्ञ चित्रकला का आनन्द नहीं ले पाते और उसी प्रकार कवि भी । इसका कारण यही है कि संगीतज्ञ तथा कवि को चित्रकला का आनन्द लेनेवाली आँखें प्राप्त नहीं या उसने अपनी इस शक्ति को परिमार्जित नहीं किया । संगीतज्ञ चित्रों में स्वर नहीं सुन पाता और कवि उसमें भाव नहीं खोज पाता तो आधुनिक चित्रकला से जूझने लग जाता है । वह यह मानने को तैयार नहीं कि संगीत की भाँति स्वर और कविता की भाँति भाव चित्रकला में नहीं होते और इसीलिए ये तीन कलाएँ हैं, यद्यपि ध्येय सबका आनन्द प्रदान करना है । साहित्यकार या कवि समझता है कि वह सबसे बड़ा कलाकार है क्योंकि वह भावों को समझ सकता है, भाव उत्पन्न कर सकता है, और कला में भाव ही सबसे ऊँची चीज़ है, अतः संगीत और चित्रकला कविता के आगे मामूली चीज हैं । इसमें कविता की भाँति भाव या विचार नहीं होते । बहुत से कवि जो चित्र-रचना भी करते हैं, अपने को बहुत भाग्यशाली समझते हैं और साधारण चित्रकारों या संगीतकारों से अपने को अच्छा समझते हैं क्योंकि उनके चित्र बड़े भावपूर्ण होते हैं । चित्रकार और संगीतज्ञ की दृष्टि में ऐसे चित्र या संगीत का कोई महत्त्व नहीं जो कविता का अनुवाद हो । स्वर की परख जिसमें नहीं, सुन्दर दृष्टि जिसमें नहीं वह संगीतज्ञ तथा चित्रकार तो है ही नहीं और न वह संगीत या चित्र का कभी आनन्द ही ले सकता है । आधुनिक समय में लोग संगीत तथा चित्रकला को इसी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करते हैं, जैसे कविता को, पर यह भूल है ।

आधुनिक चित्रकला साहित्यिक दृष्टि से समझी नहीं जा सकती बल्कि देखकर ही उसका आनन्द लिया जा सकता है ।

मुझे यहाँ एक छोटी-सी कहानी याद आ जाती है जिससे यह बात और अच्छी तरह प्रतिपादित होती है । एक बार करीब-सात आठ सौ वर्ष पूर्व एक ईरानी राजदूत भारत-वर्ष में आया । उसे बादशाह का हुक्म था कि भारतवर्ष से वहाँ की अद्भुत चीजें साथ ले

आये । लौटते समय अनेक अद्भुत वस्तुओं के साथ उसने यह भी आवश्यक समझा कि यहाँ का अद्भुत फल आम भी ले जाये । दस ऊँट आम वह अपने साथ ले गया । उस समय हवाई जहाज भी न थे, न रेफ्रिजरेटर । ईरान पहुँचने के पहले ही बोरों में आम सड़ चुके थे । राजदूत को इसका पता न था । दरबार जाते समय उसने अपने कर्मचारी को आज्ञा दी कि वह एक सुन्दर चाँदी के थाल में दस बीस बड़े-बड़े आम सुन्दर रूमाल से ढक राज दरबार में ले आये । दरबार खचाखच भरा हुआ था । बड़ी शान से राजदूत ने तश्तरी बादशाह के सामने बढ़ायी कि वह उसकी नकाबपोशी करें । बादशाह ने ज्योंही रूमाल उठाया, सड़े-गले आम मँहक उठे । बादशाह के क्रोध का ठिकाना न रहा, उसने डाँटकर राजदूत से पूछा, "क्या बदतमीजी है ?" राजदूत ने जब तश्तरी पर नज़र डाली तो उसके होश फाख्ता हो गये, बेचारे को काटो तो खून नहीं । पर वह एक विख्यात कवि भी था और हाजिर-जवाब भी । उसने बादशाह से इस गलती के लिए माफी माँगी और बोला, "हुजूर यह भारत वर्ष का सबसे उम्दा फल आम है । मुझे दुःख है कि ये रास्ते में ही सड़ गये, पर यह वहाँ की एक अद्भुत नियामत है । हुक्म हो तो इसका वर्णन करूँ ?" बादशाह की अनुमति पाकर उसने कहना आरम्भ किया, "हुजूर यह वह फल है जो मीठा और खट्टा दोनों ही होता है और यह चूस कर खाया जाता है । मान लीजिए मेरी इस सफेद दाढ़ी को शहद तथा नमक से लपेट दिया जाय और इसे आप चूसें तो आम का पूरा मजा आपको मालूम हो सकेगा।" बादशाह बहुत हँसा और राजदूत को उसके कवित्व पर माफ कर दिया । पर जरा सोचें, क्या बादशाह को सचमुच आम का आनन्द प्राप्त हुआ होगा ? यही है अन्तर देखने और शब्दों में वर्णन करने का । देखना और है, सुनना और, समझना और । आधुनिक कला देखने की वस्तु है । उसका वर्णन करना तो वैसा ही होगा जैसा आम का वर्णन । मैं आधुनिक कला का वर्णन नहीं करना चाहता, केवल यहाँ यही कहूँगा कि आधुनिक कला का आनन्द लेने में उसे किस दृष्टिकोण से देखना होगा ।

आधुनिक कला में शैली की विविधता विशेष है । साहित्यिक बन्धु या कवि कहेंगे, तब तो आधुनिक कला का कोई महत्त्व नहीं, उसमें भाव-पक्ष है ही नहीं । लेकिन कला में शैली का अर्थ है रूप, रंग, आकार तथा रेखाओं का विलक्षण संयोजन । संयोजन के भी सिद्धान्त हैं, जिनमें एकता, सुमेल, सन्तुलन, लय, गति, इत्यादि गुणों के द्वारा नाना प्रकार के रसों की उत्पत्ति होती है तथा भावों की अभिव्यक्ति होती है । प्रत्येक रंग, रूप, आकार तथा रेखा-भावों को व्यक्त करती है, रस का संचार करती है । कविता की भाँति उसमें भाव समझना नहीं होता, खोजना नहीं पड़ता, बल्कि रंगों, रेखाओं तथा आकारों के विलक्षण संयोजन से ही अपने आप दर्शक के मन पर उनका सीधा प्रभाव पड़ता है । सोचने-समझने की आव-

श्यकता नहीं पड़ती, जिस प्रकार प्रकृति का रूप देखने पर। बम्बई में मैरीन ड्राइव के सामने खड़े होकर विशाल जल-राशि पर नज़र डालें, मंसूरी में खड़े होकर हिमालय की ओर दृष्टि करें, हवाई जहाज से सुन्दर वन का निरीक्षण करें या सहारा मरुस्थल पर दृष्टिपात करें, तो क्या प्रकृति की इस विलक्षणता का आनन्द लेने के लिए आप को कुछ बुद्धि लगानी पड़ती है या शब्दकोष खोजना पड़ता है? देखते ही समुद्र की गहराई, हिमालय की ऊँचाई, सुन्दर वन का घनापन और सहारा का सूखापन आपकी आँखों को भर देता है, एक पल भी नहीं लगता। प्रकृति की यह कलाकृतियाँ मनुष्य के चित्रों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जो आप उसका आनन्द इतनी आसानी से ले लेते हैं और आधुनिक कागज पर बने या कैनवस पर अंकित आधुनिक चित्रों का आनन्द लेने के लिए आपको उसको समझने की आवश्यकता पड़ जाती है? और उसे देखकर आप कहते हैं, "मेरी समझ में नहीं आता आधुनिक चित्र", क्या आप आधुनिक चित्रों को प्रकृति के चित्रों से अलग समझते हैं? क्या आप अपने को तथा चित्रकार को प्रकृति के बाहर समझते हैं? यही है हमारी भूल। जिस प्रकार हम केवल देखकर हिमालय, कल-कल करती पहाड़ी नदियाँ, हरे-भरे घने वन, उमड़ते-घुमड़ते विशाल जल-राशिवाले समुद्रों का आनन्द सहसा ले लेते हैं, उसी प्रकार केवल देख कर हमें आधुनिक चित्रों का आनन्द ल लेना चाहिए। जिस प्रकार प्राकृतिक विलक्षण रूपों को देखकर हममें मानसिक तथा हार्दिक प्रतिक्रिया होती है और हम कविता लिख डालते हैं, उसी प्रकार इन आधुनिक विलक्षण चित्रों के रूप देखकर हमें आनन्द लेना चाहिए और इसमें शक नहीं कि वे भी हार्दिक तथा मानसिक आन्दोलन हममें उत्पन्न करते हैं, उनकी भी उसी प्रकार प्रतिक्रिया होती है। कविता देखी नहीं जा सकती, उसमें उपयुक्त शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक है, पर प्रकृति तथा चित्र में हमें केवल देखकर भी आनन्द मिल जाता है। हाँ, प्रत्येक व्यक्ति पर प्रतिक्रिया अलग-अलग पड़ सकती है। गहरे समुद्र को देखकर कोई उसमें कूदने का आनन्द ले सकता है, कोई उससे डर सकता है और कोई उसकी गहराई को अपनी भावनाओं की गहराई की सीढ़ी बना सकता है। हिमालय को देखकर कोई अपनी क्षुद्रता का अनुभव कर सकता है, पर कोई हिमालय की भाँति ऊँचा बनने की कल्पना कर सकता है। यह तो उसकी मानसिक अवस्था पर निर्भर करता है। इसी प्रकार आधुनिक चित्र केवल एक विलक्षण रूप उपस्थित करते हैं। उनकी भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया लोगों पर हो सकती है, भिन्न-भिन्न भाव उठ सकते हैं। चित्र अपनी जगह रहता है, जैसे हिमालय। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक चित्र केवल कलाकार के मस्तिष्क तथा हृदय में उपजे विलक्षण रूप ही हैं जिनको देखा जा सकता है और अपनी-अपनी मानसिक अवस्था के अनुसार आनन्द लिया जा सकता है।

अब यह सवाल उठता है कि इस प्रकार के विलक्षण रूप तो एक बच्चा भी बना सकता है, एक धूर्त्त भी बना सकता है। उसका तथा एक ऊँचे कलाकार का भेद कैसे मालूम हो ?

यह सवाल तो वैसा ही है जैसे कोई पूछे कि हिमालय और विन्ध्याचल की पहाड़ी में क्या अन्तर, समुद्र और तालाब में क्या अन्तर या जमीन और आसमान में क्या अन्तर ? इसका तो कोई जवाब नहीं अगर समुद्र और तालाब को देखकर हम अपने-आप उसका अन्तर नहीं समझ सकते। हाँ, एक बात और भी हो सकती है कि सभी आधुनिक चित्र अभी तालाब की ही सीमा में हों, उनमें समुद्र की विशालता ही न हो तो दर्शक कैसे आसानी से उसका फर्क जान सकता है ? यह बात सही भी हो सकती है, क्योंकि आधुनिक कला नयी है, अभी इसके कलाकारों में तालाब तथा समुद्र का अन्तर न उत्पन्न हुआ हो, पर आधुनिक चित्रों में कौन ऊँचा है, यह दर्शक की दृष्टि पर निर्भर करता है और दर्शक की दृष्टि को कैसे दोष दिया जा सकता है इस गणतंत्र के साम्यवादी युग में ? जनता जनार्दन है और जो वह देखती है वही सच तथा सही है। पर ऐसा भी सोचना भूल है। शेर और नकली शेर की खाल पहने गधे की पहचान हो सकती है यदि दर्शक चैतन्य हो। इसके अतिरिक्त कला के साधारण सिद्धान्तों से दर्शक को थोड़ा परिचित अवश्य होना चाहिए। रूप, रंग, आकार तथा रेखाओं का चित्र में महत्त्व समझना चाहिए। कला में संयोजन के सिद्धान्त तथा उसके गुण, सुमेल, एकता, लय, छन्द, गति आदि के उपयोग से परिचित होना आवश्यक है।

आधुनिक कला चित्रकार के मन में सहसा उत्पन्न हुए स्वरूपों का प्रतीक है। इसको बुद्धि से समझा नहीं जाता, बल्कि इन्हें देखकर सहसा आनन्द लिया जाता है, जैसे सूर्य की सतरंगी किरणों का जल-प्रपात के धवल फुहार पर।

परिशिष्ट

दादावादी प्रवृत्ति

दादावाद पाश्चात्य देशों में उभरा आधुनिक चित्रकला का एक आन्दोलन है और आधुनिक चित्रकला की भूमिका को समझने में बड़ा सहायक है। दादावाद ही आगे चलकर आधुनिक चित्रकला की अति यथार्थवादी शैली (सूरियलिज्म) में परिवर्तित हो गया जिसने आधुनिक कलाकारों तथा कला-रसिकों को अत्यन्त प्रभावित किया है। 'दादा' फ्रेंच भाषा का शब्द है और इसका अर्थ होता है घोड़ा या मौजी घोड़ा। इस शब्द का सम्बन्ध कला से कुछ भी नहीं है, पर इसे आधुनिक कला के एक आन्दोलन के साथ कैसे जोड़ा गया यह एक रोचक घटना है।

एक आन्दोलन के रूप में 'दादा' का प्रादुर्भाव प्रथम महायुद्ध के बाद १९१६ से आरम्भ होता है और १९२१ तक चलकर सूरियलिज्म में परिवर्तित हो जाता है। वास्तव में प्रथम महायुद्ध की विभीषिका ही कला के इस आन्दोलन की जन्मदात्री है। प्रथम महायुद्ध का अन्धड़ जैसे-जैसे भड़कता गया, जब उसक नर-संहारी रक्त-पिपासा ने वहाँ के अनेक प्रतिभाशाली लेखकों तथा कलाकारों को निगलना आरम्भ किया, जब उसकी भयानक नृसंशता ने निर्दयता के साथ यूरोपीय सभ्यता की अनूठी कला-निधियों को चकनाचूर करना आरम्भ कर दिया, तो बहुत से संवेदनशील व्यक्तियों में अतीव घृणा और निराशा की भावना भड़क उठी। यह ठुकराई गई, निस्सहाय तथा पीड़ित आत्मायें, इस खोखले खूनी मज़ाक को देखकर, जिसे आधुनिक सभ्यता कह कर समझाया जा रहा था, क्रुद्ध हो पड़ीं और इस निरर्थक बनावटी सभ्यता, उसके साहित्य, कला, धर्माचार तथा उसके आचरण के खिलाफ एक निरर्थकवादी (निहिलिस्ट) आन्दोलन के रूप में एकत्रित होकर भड़क उठीं।

१९१६ में जर्मन कवि ह्यूगो बाल ने ज्यूरिख में एक साहित्यिक काफे स्थापित किया जिसका नाम उसने "कैबरे वोलतेयर" रक्खा। धीरे-धीरे यह स्थान देश से भागे

तथा देश से निकाले लोगों का प्रधान अड्डा बन गया। इसमें रूमानियन तरुण कवि त्रितां ज़ारा, अलशेशियन चित्रकार हान्स आर्प, जर्मन कवि रिचर्ड हुयलसेनबेक और जेनेवा विश्वविद्यालय के डा० वाल सेरनर भी शामिल थे। इन लोगों ने मिलकर उस समय के घृणित संसार के खिलाफ सामूहिक रूप से अपनी आवाज़ बुलन्द करने का निश्चय किया। ८ फरवरी १६१६ को एक भारी सभा हुई और पूरी सरगर्मी के बीच उन्होंने अपने आन्दोलन का नामकरण किया। त्रिस्तां ज़ारा ने, जो उस समय तक उन सभों का नेता बन चुका था, एकाएक कागज़ काटने का चाकू उठाया और उसे पास में पड़े 'लारूज़' नामक फ्रेंच शब्दकोष के पन्नों के भीतर बिना कुछ सोचे विचारे डाल दिया। जिस शब्द की ओर चाकू का निशाना था वह था "दादा" और बिना सोचे-विचारे वही नाम स्वीकृत हो गया इस आन्दोलन के लिये।

ज्यूरिख उस समय मध्य यूरोप के शरणार्थियों, जर्मन पैसीफिस्टस्, रूमानियन, हंगारियन तथा रूसी क्रान्तिकारियों का मुख्य अड्डा बन चुका था। रूस का क्रान्तिदूत लेनिन उस समय वहीं अपने प्रसिद्ध रूसी अभियान की तैयारी कर रहा था। वहीं 'दादावाद' की नींव पड़ी। वैसे इस आन्दोलन ने बड़ी जल्दी सर्वव्यापी रूप धारण कर लिया और यूरोप में अनेक स्थानों पर इसकी शाखायें फूट पड़ीं। न्यूयार्क में मार्सेल दुशाम्प तथा फ्रान्सिस पिकाबिया के नेतृत्व में भी इस आन्दोलन ने उग्र रूप धारण किया और बाद में तो मार्सेल दुशाम्प ज्यूरिख ग्रूप में भी शामिल हुआ।

'दादावाद' का कला से सम्बन्ध :

वास्तव में 'दादावाद' एक स्वाभाविक आन्दोलन था साहित्यकारों और कलाकारों का, जो अपनी वर्त्तमान सामाजिक कुव्यवस्था, स्वार्थपरता, छलना, निर्दयता, उजड्डता तथा दिमागी दिवालियेपन का पर्दा फाश करना चाहता था। लेकिन नरसिंहों की ताकत इतनी प्रचण्ड थी कि खुलकर उनका विरोध करना तनिक भी संभव नहीं था। यह नरसिंह एक ओर धर्म, शान्ति तथा आदर्श की दुहाई देते थे और दूसरी ओर निरीह मानवता का रक्त-शोषण करते थे। यही अब तक की आधुनिक सभ्यता की खुली तस्वीर थी। शक्ति के आगे सचाई का गला घोंटा जा रहा था, धर्म के नाम पर नरसिंह अपने काले कारनामों पर पर्दा डाल रहे थे, मानसिक तर्कों के आधार पर झूठ को सच और सच को झूठ साबित किया जा रहा था, सभ्यता तथा आदर्श के निरर्थक मानदण्ड बनाये जा रहे थे। निरीह मानवता चुपचाप, गुम-सुम, निस्सहाय, सहमी नज़र से बिना उफ़ किये, बिना आँखों से एक कतरा आँसू बहाये, अवाक् सारी बर्बरता को सह रही थीं। यही हृदय-विदारक तस्वीर,

जिसमें मां की गोद में दम तोड़ता नन्हा शिशु तड़प रहा था, पिता की तोपों और बमों से उड़ाये चीथड़ों को पुत्र श्मशान में खोज रहा था, विधवाओं के दारुण क्रन्दन से सारा वायुमण्डल काँप रहा था, लाशों से गली कूचों का एक-एक गड्ढा पट रहा था, आसमान में चील, कौवों और गिद्धों का बादल-सा टूटा पड़ रहा था, दाने-दाने के लिये मोहताज आदम का बेटा तड़प-तड़प कर ईंट, पत्थर और रोड़े चबा रहा था, काफी थी उस समय के साहित्यकारों तथा कलाकारों को द्रवित करने के लिए। वास्तविक कलाकार तथा साहित्यकार और कवि के दिलों में घृणा, रोष और प्रतिहिंसा की ज्वाला भर देने के लिए यह एक तस्वीर काफी थी। यही आग दादावादी कला तथा साहित्य की पृष्ठभूमि है।

दादावादी कलाकारों ने ऐसे समाज के खोखले आदर्शों तथा सभ्यता की धज्जियाँ उड़ा दीं अपनी कला में। कला के सारे प्रचलित आदर्शों, मान्यताओं, सिद्धान्तों और परम्पराओं को चकनाचूर कर उन्होंने नई कला को जन्म दिया और यह कला एक मुँहतोड़ जवाब थी अपने समकालीन समाज और सभ्यता के ठेकेदारों को। उन्हें यह पूरी तरह पता था कि रसभरी कला या कविता उन नरसिंहों के लिये मदिरा थी, जो उनकी चेरी के रूप में उन राक्षसों का मनोरंजन ही करती थी, जो उन्हीं की छाती में अपना पंजा चुभाते थे। उस समय का कलाकार और साहित्यकार यह भली-भाँति समझ चुका था कि उसकी कला का उपयोग ही कुछ दूसरा था। वह समझ चुका था अपनी कला की ताकत को और जानता था जवाब देना इन नरसिंहों को।

दादावादी साहित्य और कला ने एक दूसरा ही जामा पहिना, निरर्थकता का, उन्होंने निरर्थकता को ही अपना आदर्श बनाया। साँप के जहर को उसी का जहर काबू में लाता है। निरर्थक समाज और सभ्यता को निरर्थक साहित्य और कला ही जवाब दे सकती थी। यही एक शैली थी जो उस समय प्रभावशाली साबित हो सकती थी और नव-निर्माण की भूमिका तैयार कर सकती थी, यही एक तरीका था राख उड़ाकर आग को प्रज्वलित करने का, यही एक रास्ता था मानवता को फिर से जीवित करने का। दादावादी कलाकार तथा साहित्यकार इस कार्य में कहाँ तक सफल हो सके इसका लेखा-जोखा नहीं हो सका। पर उसके बाद १६३६ में प्रथम विश्वयुद्ध से बढ़कर हृदय विदारक दृश्य द्वितीय महायुद्ध के रूप में पुनः सामने आया, जिसकी आग आज तक नहीं बुझी है और वैसी ही दादावादी कला, आन्दोलन के १६२१ में लुप्त हो जाने के बाद सूरियलिज्म बीटनिक के रूप में वह आन्दोलन आज भी प्रचलित है, बड़े ही उग्र रूप में सारे संसार में। आज भी कलाकार उसके महत्व और उपयोग को भूले नहीं हैं।

दादा समुदाय केवल चित्र बनाने तथा कविता लिखने तक ही सीमित नहीं रहा। 'दादावादियों' ने अपने ध्वंसकारी आदर्शों से सारे संसार को चकाचौंध करने के लिये सामुदायिक वाद्य-संगीत, प्रदर्शनी, सभा तमाम रूपों को अपनाया और अक्सर इन अवसरों पर मारकाट तथा सामूहिक विरोध तथा धर-पकड़ उभड़ पड़ता था। १९१६ में ही इन्होंने एक पर्यालोचन अंक प्रकाशित किया जिसका नाम "कैबरे वोलतेयर" रक्खा गया और तत्पश्चात एक प्रदर्शनी का भी आयोजन हुआ जिसे "दादा आर्ट गैलरी" कहा गया। १४ जुलाई १९२६ को त्रिस्तां ज़ारा ने अपना "दादा मैनिफेस्टो" पढ़कर सुनाया जिसमें कला, विज्ञान, दर्शन तथा मनोविज्ञान के बिल्कुल नये चौंकाने वाले आयाम उपस्थित किये गये। १९१९ में प्रथम महायुद्ध के बाद 'दादा' आन्दोलन का केन्द्र ज्यूरिख से हटकर पेरिस पहुँच गया। 'दादा' की अन्य छोटी शाखायें क्लोग्नी, बर्लिन, हनोवर और अन्य नगरों में भी स्थापित हुईं।

'दादावाद' का उग्र रूप :

क्रमशः 'दादा आन्दोलन' और भी विक्षिप्त रूप धारण करके सामने लाया गया। एक बार पाँच व्यक्तियों की एक टोली ने भट्टी की नलियाँ (स्टोवपाइप्स) पहन कर नृत्य किया जिसे "नुआर ककादु" कहा गया। एक कविने जैसा कि पूर्व घोषित किया गया था कविता न पढ़कर, स्टेज पर आकर वहाँ खड़े एक गूँगे के चरणों पर फूल चढ़ाया और एक ओरसे आकर दूसरी ओर चला गया। कलोग्नी की एक प्रदर्शनी में सन् १९२० में प्रदर्शनी का मुख्य द्वार एक शौचालय की ओर से खोला गया। एक बार एक प्रदर्शनी में आने वाले दर्शकों को प्रदर्शनी में घुसने के पहिले एक एक बसूला प्रदान किया गया ताकि वे प्रदर्शनी में उपस्थित वस्तुओं पर अपना प्रहार कर सकें। प्रदर्शनी-कक्ष के एक कोने में एक युवती अपनी सुहाग-रात की तैयारी कर रही थी और गन्दे गाने गा रही थी। कभी-कभी कविता सुनाने के लिये एक साथ दो कवि अपनी-अपनी अलग-अलग कविता जोर-जोर से चिल्ला-चिल्ला कर सुनाते थे और उसी के साथ घंटियाँ बजाने तथा तीव्र संगीत का भी आयोजन होता था। चित्रकार एक श्यामपट्ट पर खूब जल्दी-जल्दी चित्र बनाता और उतनी ही तीव्रता से उसे मिटाता जाता, सभा में अत्यन्त घबराये हुये व्यक्ति को ही सभापति के आसन पर पदासीन कर दिया जाता। इसी प्रकार तमाम तरह के निरर्थक प्रदर्शन हुआ करते थे और धीरे-धीरे वहाँ उपस्थित होने वाली जनता भी सारे रहस्य को समझ कर उन्हीं के साथ हुल्लड़बाजी में हाथ बँटाती और अक्सर पुलिस के आने पर ही यह सब बन्द होता। एक बार जब 'दादा' की ओर से उनका घोषणापत्र पढ़ा जा रहा था जिसमें दर्शकों का मज़ाक उड़ाया गया था और उन्हें गालियाँ दी गई थीं, तो दर्शकों ने सड़े टमाटर और अण्डे

फेंककर उसका अभिवादन किया और उसी को वापस फेंक कर 'दादावादियों' ने जवाब दिया ।

'दादावादियों' को अपनी ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों के कारण कला का विरोधी कहा जाता था क्योंकि वे कला के सारे पुराने आदर्शों, परम्पराओं तथा मान्यताओं के कट्टर विरोधी थे, साधारण तर्क को भी तिलांजलि दे चुके थे और निरर्थक बातों को ही महत्त्व देते थे । पर 'दादावादियों' ने जो चित्रकला उपस्थित की है उसका महत्त्व बिना सुचारु रूप से विचार किये घटाया नहीं जा सकता, खास कर उनकी चुटीली उक्तियों तथा व्यंगात्मक अभिव्यक्तियों को । 'दादा' चित्रकारों ने बड़े ही ऐतिहासिक महत्त्व की कला सामने रक्खी है और उनके विचार भविष्य म भी लोगों को प्रभावित करने में समर्थ हैं ।

प्रमुख 'दादावादी' कलाकारों में हान्स आर्प, आर्प शिरीको, अर्न्स्ट, मार्सेल दुशाम्प और पिकाबिया अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रभावशाली हैं । 'दादावादी' चित्रकला को पूरी तरह से समझने के लिये दुशाम्प का चित्र "बैचलर्स", पिकाबिया का चित्र "वेरी रेयर पिक्चर आन द अर्थ" और अर्न्स्ट का चित्र "द लिटिल टियर-ग्लैन्ड जो कहता है टिक-टक" दर्शनीय हैं ।

भारतवर्ष में 'दादावाद' की किस्म का कोई आन्दोलन तो अभी तक नहीं देखा गया पर 'दादावादी' किस्म के चित्र बनाने वाले चित्रकार ज़रूर हैं । वैसे इस प्रवृत्ति के भारत में ज़ोर पकड़ने के आसार बहुत कम हैं, क्योंकि यहाँ परम्परा का शिकंजा अब भी बहुत मजबूत है ।

जंगलवादी प्रवृत्ति

पिकासो और मतीस्स दोनों आधुनिक काल के विख्यात कलाकार माने जाते हैं। मतीस्स को 'फाविज्म' (जंगली कला) का और पिकासो को 'क्यूबिज्म' (घनत्व वादी कला) का प्रवर्त्तक माना जाता है। 'जंगली कला' से फ्रेंच कला की उस आधुनिक शैली को सम्बोधित किया जाता है जिसे हम घोर परम्परा विरोधी निर्द्वन्द कला कह सकते हैं। वास्तव में 'फाविज्म' आधुनिक फ्रेंच कला की वह शैली है जो अपने उत्पत्ति से पहिले की सारी कला-परम्परा से पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर नये धरातल पर नया कदम रखने का प्रयास करती है और यहीं मतीस्स का पिकासो से विरोध होता है। पिकासो ने खुद बहुत सी मान्यताओं और परम्पराओं को तोड़ा और नयी मान्यताओं तथा परम्पराओं को जन्म दिया पर मतीस्स ने अपना नया कदम पिकासो ऐसे प्रभावशाली कलाकार की मान्यताओं के आगे रखना चाहा, यहीं विरोध आरम्भ होता है दोनों में।

'फाविज्म' अब तक की कला की सारी मान्यताओं को तिलांजलि दे, मनमाने ढंग से, व्यक्तिगत सूझबूझ से, निर्द्वन्द कला की रचना करना ही अपना मुख्य लक्ष्य समझती है। इसीलिये इसका नाम 'फाविज्म' पड़ा, 'बे उसूल कला'। अपने लक्ष्य में यह शैली स्वप्निल चित्र शैली 'सूरियलिज्म' से मिलती-जुलती सी लगती है पर वास्तव में ऐसा नहीं है। 'सूरियलिस्ट' कलाकार जान बूझकर निरर्थक सामंजस्य उपस्थित करता है अपने चित्रों में, पर 'फाविस्ट' ऐसा न कर केवल अपना चित्र ऐसे ढंग से बनाना चाहता है जो उसका अपना हो और निराला हो, वह किसी वाद में नहीं फँसना चाहता। दूसरे माने में 'फाविज्म' आधुनिक कला की वह शैली है जो अपने से पहले की सारी कला का मन्थन कर अपने लिये नया आधार चुनती है। जो उसे पसन्द आता है उसे वह ग्रहण करती है, जो उसे निरर्थक जान पड़ता है उसे वह त्यागती चलती है। एक माने में यह प्रवृत्ति सबसे आधुनिक तथा स्वाभाविक है। अब तक चित्रकला ने तमाम नई उपलब्धियाँ की हैं। प्रत्येक नयी शैली एक नई बात सामने लेकर आयी है। तमाम नये प्रयोग हो चुके हैं, शायद इतने कि अब उनसे नया जोड़ना कठिन हो गया है, अभी तक कलाकार की यही प्रवृत्ति रही कि वह कोई नयी शैली निकाल सके और यह कार्य बीसवीं शताब्दी तक बहुत हुआ। अब यह संभावना

बहुत कम हो गई है। यही बात 'फाविस्ट' कलाकारों ने महसूस की और बजाय इसके कि वह कोई नई शैली निकालें, उन्होंने यही उपयुक्त समझा कि अब तक जो कुछ नये प्रयोग हुए हैं उसी को अपनी कला के पौधे के लिये खाद समझकर एक सशक्त आधुनिक शैली तैयार करें। क्योंकि 'फाविस्ट' कला मनचाहे ढंग से सभी वादों का एक समन्वय उपस्थित करने का प्रयत्न करती है। उसे शुरू में लोगोंने 'जंगली कला' (फाविज्म) कहा, पर वास्तव में इसे जंगलीपन न कहकर सभ्य कला कहना चाहिये था, क्योंकि सभ्यता इसी आधार पर स्थापित होती है कि जो कुछ अब तक हासिल हुआ है उसका उपयोग किया जाय और उसी आधार पर कला को एक सुदृढ़ रूप दिया जाय। 'फाविस्ट' कलाकार इस कार्य में कहाँ तक सफल हुए ? यह दूसरी बात है, पर उनके प्रयास को इसी दृष्टि से देखा और समझा जा सकता है।

आधुनिक चित्रकला जब 'यथार्थवाद' से उबर कर 'इम्प्रेश्निज्म' (आभासात्मक चित्रकला) तक पहुँची तो वह दो प्रमुख विचार-धाराओं तथा कला के रूपों में बँट जाती है। एक थी वैज्ञानिक प्रवृत्ति जो 'इम्प्रेश्निज्म' को खींच कर अत्यन्त बौद्धिकता की ओर 'क्यूबिज्म' 'प्वाइन्टिलिज्म' तथा 'सूक्ष्म कला' (ऐब्स्ट्रैक्ट आर्ट) की ओर ले जाती है। दूसरी ओर वह मनोवैज्ञानिक रूप में 'एक्सप्रेश्निज्म', 'सूरियलिज्म' तथा 'फाविज्म' की ओर प्रगति करती है। यह दो धारायें आधुनिक कला में बराबर बनी रहीं किसी न किसी रूप में। पिकासो की कला ने 'सूक्ष्म कला' को स्थापित किया और मतीस्स ने 'फाविज्म' (जंगली कला को)।

'फाविज्म' का मुख्य ध्येय रहता है चित्र में अपनी संवेदनाओं को अत्यन्त स्वाभाविक तथा प्रभावशाली रूप में, मौलिक अभिव्यक्ति प्रदान करना। वे चित्र में सरलता तथा सूक्ष्मता को प्रभाव-वर्धक मानते हैं, पर जानी-पहचानी आकृतियों तथा वस्तुओं के द्वारा ही वे अपनी अभिव्यक्ति करते हैं। उनके चित्र में इसकी कठिनाई नहीं होती कि क्या वस्तु अंकित है, जबकि 'सूक्ष्म कला' में कभी-कभी ज़रा भी पता नहीं लगता कि क्या अंकित है। केवल सूक्ष्म रूप, रंग, आकार तथा रेखायें ही दृष्टिगोचर होती हैं। दूसरी बात यह कि 'फाविस्ट' चित्रों में रंगों को ही प्रमुख माना जाता है भावाभिव्यक्ति में। कभी-कभी ऐसे चित्र बनते हैं जिनमें कोई आकृति नहीं होती केवल रंगों का एक सम्पुट मात्र ही दिखाई पड़ता है जो अत्यन्त प्रभावशाली रूप में संवेदनाओं की अभिव्यक्ति करता है। 'फाविस्ट' 'क्यूबिस्ट' की तरह आकारों को गढ़ना भी पसन्द नहीं करता बल्कि चपटे रूप में ही रंगों के द्वारा उसका एक आभास मात्र उत्पन्न करता है। सच बात तो यह है कि 'फाविस्ट' कलाकार रूप, आकार,

रेखा या रंग किसी को भी निश्चितता के साथ चित्र में नहीं उतारता बल्कि मनमाने आभासात्मक रूप में उन्हें एक दूसरे में घुलने-मिलने देता है, ताकि चित्र का कोई एक भाग प्रमुख होकर सामने न आये, बल्कि पूरा चित्र एक होकर एक मुख्य संवेदना की अभिव्यक्ति करे। यहीं पर 'फाविज्म' 'एक्सप्रेश्निज्म' (आत्म अभिव्यक्तिवादी कला) से मिलने जुलने लगती है और वास्तव में दोनों शैलियों के लक्ष्य में और रूप में भी कोई खास अन्तर नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि 'एक्सप्रेश्निस्ट' कला अति तीव्र संवेदनाओं की अभिव्यक्ति करती है और 'फाविस्ट' थोड़ा मुलायम ढंग से। विकृति (डिस्टार्शन) का प्रयोग दोनों में होता है अन्तर केवल तीव्रता का है। 'फाविज्म' को रंगमय संगीत ही कहा जा सकता है और इसी रूप में उसका रसास्वादन करने की आवश्यकता है।

मतीस्स ने एक स्थान पर स्वयं स्वीकार किया है – "मेरे मन में उस तरह की चित्रकला का स्वप्न है जिसे सन्तुलित कला कह सकते हैं, जिसमें निर्मलता तथा शान्ति हो, जिसका विषय-वस्तु न तो आतंकित करे न तंग करे। वैसी कला हो जो हर प्रकार के बौद्धिक, श्रमिक, चाहे वह व्यापारी हो या लेखक, के मन पर एक अत्यन्त सन्तोषपूर्ण प्रभाव छोड़ सके, जो उसके मस्तिष्क को आरामदेह लगे, बिलकुल एक सुखदायी आराम कुर्सी की भाँति जिसमें आदमी अपनी मानसिक थकावट दूर कर सकता है।"

आधुनिक कला की सारी शैलियाँ किसी न किसी रूप में पाल सेज़ान की कला से प्रेरित मालूम पड़ती हैं और 'फाविज्म' का रंगों को महत्त्व देना सेजान के प्रयास से बहुत दूर नहीं है। सेज़ान के बाद वानगाग तथा गोगां की कला ने रंगों पर अत्याधिक महत्त्व दिया और वहीं से मूल रूप में 'फाविज्म' का आरम्भ हो जाता है, पर एक निश्चित शैली के रूप में सन् १९०५ में ही यह सामने आती है। पेरिस में शरद-कला-कक्ष 'आटम सलो' में आधुनिक कलाकारों के एक विशेष ग्रूप ने कला की एक प्रदर्शनी का आयोजन किया जिसके प्रमुख कलाकार थे मतीस्स, आन्द्रदिरें, मारिस व्लामिक, राऊल दयूफे, तथा जार्ज रुओ। मतीस्स इसका मूल प्रेरक था। इसी प्रदर्शनी को देखकर एक कला आलोचक ने इन्हें 'फाव्स' कहकर सम्बोधित किया और तबसे यह एक विशेष शैली के रूप में प्रचलित हो गई। इस प्रदर्शनी के सभी चित्रों में गाढ़े चमकदार कन्ट्रास्टिंग रंगों की प्रधानता थी जिनमें अल्ट्रामरीन, इमरल्ड, वर्मिलियन तथा मेडर ऐसे अत्यन्त चमकदार रंगों को प्रयुक्त किया गया था। बहुत से चित्रों में तो गाढ़े तैलरंग, ट्यूब में से सीधे निचोड़ कर चित्रों में बहाये गये थे और ऐसे चमकते थे जैसे मोज़ैक शीशे हों। यहाँ कलाकारों का मुख्य ध्येय ही था दृश्य को रंगों की गति में परिवर्तित कर देना। कलाकारों ने रंगों को चित्रों में ऐसे उड़ेला था जैसे जीवन से प्राप्त सारी रंगीनी और मस्ती ही निचुड़कर चित्रों में उतर आई

हो। प्रत्येक कलाकार ने अपने व्यक्तित्व, स्वभाव तथा प्रकृति को रंगों की भाषा में उपस्थित करने का प्रयत्न किया था। सभी कलाकारों ने पूर्ण निर्द्वन्दता के साथ अपनी अभिव्यक्ति की थी। इस प्रदर्शनी की विशेषता यही थी कि कलाकारों ने कभी भी अपने चित्रों के बारे में कोई थ्यूरी या विचारधारा साबित करन की कोशिश नहीं की और न आगे ही की।

धीरे-धीरे इस शैली को तमाम कलाकारों ने अपनाया और यह काफी प्रचलित भी हुई। इनमें अलबर्ट मार्क्वे, कार्ल स्मिथ, हर्बर्ट बूअल, फ्रांज मार्क, आगस्त मैकि, जार्ज रुओं इत्यादि कई प्रतिभावान कलाकार सामने आये। पर इनमें से अधिकतर धीरे-धीरे मौलिकता के मोह के कारण अलग होते गये और अन्य शैलियों में शामिल हो गये। केवल मतीस्स अन्त तक इस शैली पर काम करता रहा और उसकी काफी चर्चा रही पिछले बीस पचीस वर्षों में। मतीस्स की १९५४ में मृत्यु हो गई पर उसकी कला का प्रभाव आज भी बढ़ता ही जा रहा है, यद्यपि पिकासो अभी जिन्दा है।

भारतवर्ष में भी आजकल 'फाविज्म' का जोरदार प्रभाव देखा जा रहा है। इस ओर सर्वप्रथम अमृतशेरगिल ने कदम निकाला था और तब से आजतक तमाम भारतीय आधुनिक कलाकारों ने कदम-कदम चलना आरम्भ किया है। आज के भारतीय आधुनिक कलाकारों में मोहम्मद फिदा हुसेन, बेन्द्रे, चावड़ा, पणीक्कर, भवेश-सान्याल, अभय खटाऊ, आरा, रज़ा, गादे, हजार्निस, माखनदत्त, शैलोज मुखर्जी इत्यादि तमाम नये कलाकार सामने आये हैं जिन्हें 'फाविस्ट' ही कहा जा सकता है। रंग प्रयोग की छूट की दृष्टि से भारतीय कलाकारों की यह प्रवृत्ति आशाजनक है यद्यपि जब तक यह कलाकार 'फाविज्म' या म्तीस्स के प्रभाव से मुक्त होकर मौलिक रूप में प्रगति करने का प्रयास नहीं करते, तब तक तो इनकी कला को भी 'जंगलवादी' कला ही कहना पड़ेगा, जिसमें ऊटपटांग जो जी चाहे कहना ही प्रधान होता है। भारत इस दृष्टि से अभी तैयार नहीं है और एक निश्चित भूमि के आधार पर ही नई कला फल-फूल सकती है। बेन्द्रे, पणीक्कर और भवेश सान्याल की कला इस दृष्टि से जागरूक दिखाई पड़ती है और काफी आशाजनक है। जबकि अन्य शैली के आधुनिक भारतीय कलाकार हेब्बर, रवीन्द्रनाथ देव, सतीश गुजराल, जगदीश गुप्त, सुधीर खास्तगीर, महेन्द्रनाथ सिंह तथा राचशु इत्यादि इस ओर सुनियोजित ढंग से काफी दूर तक प्रगति कर सके हैं।

———

कला और साहित्य वि... क
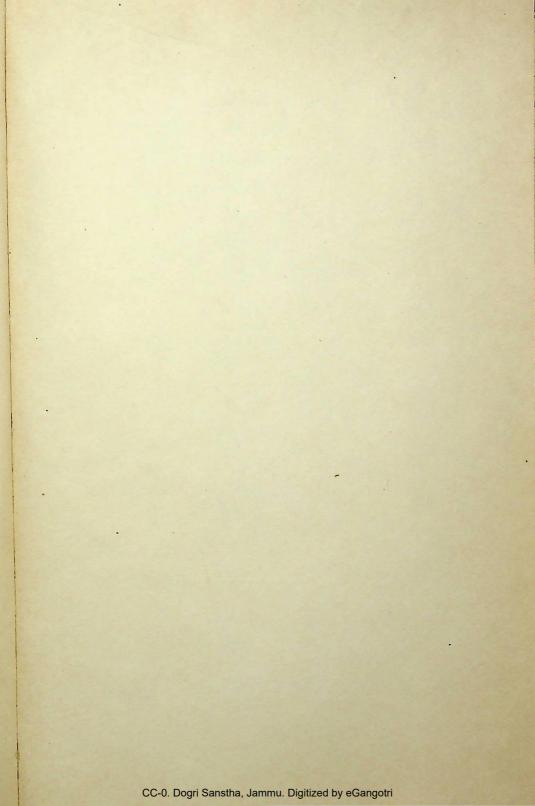
हमारे अन्य प्रकाश...

* रंगमंच ११.५
* संगीत-शास्त्र ८.५
* भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच २.५
* संस्कृत नाटककार ४५.
* हिन्दी उपन्यास-कला ६.५
* हिन्दी कहानी-कला १२.०
* पाश्चात्य निबन्ध-कला ११.०
* हिन्दी रेखा-चित्र ८.०
* पश्चिमी आलोचना-शास्त्र ८.५
* काव्य मनीषा १०.०
* संस्कृत आलोचना ५.५
* योग-दर्शन ७.०
* भारतीय वास्तुकला का इतिहास ... ८.०
* उर्दू-हिन्दी शब्दकोश १८.०
* हलायुध कोश २५.०
* सूक्ति-सागर १०.०
* समाचार-पत्र-कला ७.५